२२

ज्योतीशिखा

जीवन जागृति केन्द्र, बंबई

आचार्य श्री रजनीश साहित्य

हिंदी साहित्य	मू. रुपये
* प्रेम के फूल	५–००
* प्रेम और विवाह	१–५०
* मन के पार	१–००
* गीता दर्शन पुष्प–१	३–००
* समाजवाद से सावधान	४–००
* शून्य की नाव	३–००
* अस्वीकृति में उठा हाथ	५–००
* क्रांतिबीज	४–००
* संभोग से समाधि की ओर	५–००
* प्रभु की पगडंडियां	४–००
* सत्य के अज्ञात सागर का आमंत्रण	१–२५
* बिखरे फूल	०–३५
* सिंहनाद	१–५०
* कुछ ज्योतिर्मय क्षण	१–००
* अज्ञात की ओर	२–००
* नये संकेत	२–००
* नये मनुष्यके जन्म की दिशा	०–७५
* शांति की खोज	२–००
* क्रांति के बीज सबसे बड़ी दीवार	०–३०
* अमृतकण	०–४०
* अहिंसा दर्शन	०–५०
* ज्यों की त्यों धरि दीन्ही चदरिया (पंच महाव्रत)	४–००
* जिन खोजा तिन पाइयां (कुंडलिनी योग पर दिये गए प्रवचन)	२०–००
* सारे फासले मिट गये	१–२५
* प्रेम है द्वार प्रभु का	–००
* सत्य की खोज	४–००
* संभावनाओं की आहट	६–००
* गहरे पानी पैठ	५–००
* मैं कहता आँखन देखी	५–००
	वार्षिक मूल्य
* ज्योतिशिखा (त्रैमासिक)	५–००
* युक्रांद (मासिक)	१२–००

English Literature

Original English Booklets

* Eternal Message	2-00
* The Dimensionless Dimension	2-00
* The Only Freedom	8-0(
* I am the Gate	7-00
* Turning IN	2-00
* Silent Music	2-00
* What is Meditation	3-00
* Meditation : A New Dimension	2-0(
* Beyond and Beyond	2·00
* Flight of the Alone to the Alone	2-50
* The Vital Balance	1-50
* Yoga : As Spontaneous Happenirg	2-00
* L. S. D.—A Shortcut to False Samadhi	2-0(
* Gateless Gate	2-00

Translated From Original Hindi

* From Sex to Super Consciousness	6-00
* Towards the Unkrown	1-50
* Seeds of Revolutionary Thoughts	4-5(

(शेष कवर पेज ३ पर)

मान्यक सम्पादक :

महीपाल

अरविन्द

•

अंक : २२ वां

सितम्बर १९७१

•

मुखपृष्ठ सज्जा :
रंगरेखा स्टुडियो

•

एक प्रति : रु. १–२५,

वार्षिक शुल्क : रु. ५–००

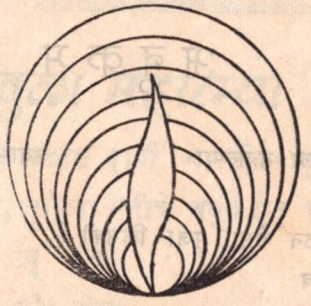

ज्योति शिखा

(आचार्यश्री रजनीश की अमृतवाणी का संकलन)

प्रकाशन स्थल :
जीवन जागृति केन्द्र
एम्पायर बिल्डिंग (वी. टी. स्टेशन के
सामने) पहला माला, रूम नं. ५३,
डॉ. दादाभाई नौरोजी रोड, बम्बई-१
फोन : २६४५३०

•

मुद्रण स्थल :
स्टेट्स पीपल प्रेस,
फोर्ट, बम्बई-१

•

अनुक्रम

• लाख बन्दने तुला महात्म्या	स्वामी कृष्णानन्द सरस्वती	५
• मंदिर	... ...	७
• संघ क्या, संगठन कैसा, पूजा किसकी ?		२०
• परमप्रिय गुरुदेव	शिरीष पै	२६
• प्रेरणा	... ...	३७
• जीवन का गूढ़ गणित	... ...	४२
• एक दम मर जायें	ब्रह्मदत्त	५२
• प्रतिकर्म और प्रतिसंवेदन	... ...	६६
• स्वयम्भू सर्वज्ञ शुद्ध	आचार्यश्री	७०

लाख वन्दने तुला महात्म्या

लाख वन्दने तुला महात्म्या, प्रकाश दावी भारतीया तू
नव्या पिढीच्या हाती पुरवी, तुझिया मनीचे अमूर्त हेतू ।
सदैव स्मरणी ठेवू ईश्वर
मना मनातील सांधू अंतर
सत्य शोधूनी रमू निरंतर
धर्म, पंथ आणि राष्ट्रे जोडू, सद्भावांचे बांधून सेतू ॥

तेजस्विनी तव शूर अहिंसा
पुढे चालवू तिचा वारसा
चळू न नीतीपासून सहसा
पाडिल्यास तूं पाऊल वाटा, मागे आमुचे त्यावर बेतू ॥

गरीबातला गरीब प्रजाजन
करिल सुखाने मत प्रदर्शन
दबेल मुळी न त्याचे मी पण
स्वराज्य त्याचे, स्वदेश त्याचा, विजयी तिरंगा त्याचा केतू ॥

संचित दौलत श्रीमंताची
ठेवच ठरवू अकिंचनाची
उभवु मंदिरे समानतेची
पूर्वी-स्पृश्या आप्त मानतील, पिढ्या पुढिल तव नातू-पणतू ॥

समता स्थापू आर्थिक धार्मिक
तुझ्या पथाचे आम्ही यात्रिक
चरित आठवू तुझे अलौकिक
सुखी कराया राष्ट तुझे हे, धर्म जळे का रूधिर ही ओतू ॥॥

—स्वामी कृष्णानन्द सरस्वती

★

मंदिर

(गतांक से आगे)

और आप पूछते हैं कि क्या आज भी मंदिर वापस--इस परिवर्तित समय में, उपयोग में लाये जा सकते हैं ?

वे लाये जा सकते हैं। लेकिन पुराना पुरोहित मंदिर में जो बैठा है वह इसको उपयोग में लाने के लिए लोगों को नहीं समझा पायेगा। उसके पास चाभी है, लेकिन उसके पास चाभी के पीछे कोई व्यवस्था नहीं है। मंदिर की पूरी दृष्टि और पूरे दर्शन को पुनर्स्थापित करना आज भी काम में आ सकता है। और पुराने से भी बेहतर मन्दिर हम आज बना सकते हैं, क्योंकि आज सब साधन हमारे पास ज्यादा बेहतर हैं। ज्यादा बेहतर सामान का उपयोग किया जा सकता है जो ध्वनि को हजार गुना कर दे, मैग्नीफाई कर दे। इतनी संवेदनशील दीवालें बनायी जा सकती हैं कि आप एक बार ओम् कहें और दीवालें लाख बार ओम् दोहरा दें। आज हमारे पास सारे उपकरण ज्यादा बेहतर हैं और हो सकते हैं, यदि कुंजी ख्याल में हो।

पहले तो हमें एक दरवाजा रखना भी पड़ता था, अब हम बिल्कुल बिना दरवाजे का मंदिर रख सकते हैं। उसको हम बिल्कुल ही बन्द कर सकते हैं। आज हमारे पास ज्यादा बेहतर उपकरण हैं, ज्यादा बेहतर मन्दिर बनाया जा सकता है। तब जिन लोगों ने मंदिर बनाये थे वे बिल्कुल झोंपड़े में रह रहे थे, उनके पास कोई उपकरण नहीं थे। मिट्टी-गारे से जो वे कर सकते थे, जो संभव था उस सीमा के भीतर, उन्होंने वह किया। फिर भी अद्‌भुत किया! हमारे पास आज बहुत अद्‌भुत उपकरण हैं, लेकिन हम कुछ भी नहीं कर पा रहे हैं। यह उसकी अंतर्वस्तु है, मंदिर की।

उसकी बहिर्वस्तु भी है। उसका बाह्य उपयोग भी है। यह तो साधक की बात हुई जो मंदिर जायेगा, साधेगा, व्यवस्था में गहरा उतरेगा और साधना में डूबेगा। जो डुबकी लेगा, उसकी बात हुई। लेकिन जो मंदिर के पास से गुजरता था उसको भी फर्क पड़ता था; यद्यपि अब नहीं पड़ता है। अब तो भीतर जाने वाले पर भी नहीं पड़ता। फर्क पड़ता था उसी दिन, जब भीतर जाने वाला सच में भीतर कुछ कर रहा था। जब मन्दिर में निरंतर दिन में पच्चीसों, सैकड़ों साधक आकर एक विशेष ध्वनि-व्यवस्था का संचरण करते हैं तो मन्दिर चार्ज्ड हो जाते हैं। मन्दिर फिर भीतर ही ध्वनि नहीं फेंकता, बाहर भी बहुत सूक्ष्म ध्वनियाँ फेंकना शुरू कर देता है। जीवित हो जाता है। जीवित मंदिर का अर्थ यही था। जीवित प्रतिमा का भी अर्थ यही था कि उस प्रतिमा से ऐसे व्यक्ति को भी संस्पर्श हो जाय, जो उससे संस्पर्श करने आया नहीं था। जो उत्तर दे सके, जो कुछ कर सके। मंदिर जीवित वही कहा जाता था, जिस मंदिर के पास से आप अनजाने गुजर रहे हों और एकदम आपको लगे कि हवा बदल गयी, एकदम आपको लगे कि कुछ वातावरण और हो गया। आपको पता भी न हो कि मन्दिर है पड़ोस में। आप अंधेरी रात में गुजर रहे हों और मंदिर के पास आकर आपको भीतर लगे कि जैसे चीज बदल गयी हो। आप जो सोच रहे थे वह धारा टूट गयी, आप कुछ और सोचने लगे। हत्या की सोच रहे थे और एकदम दया से भर गये। लेकिन यह तभी हो सकता है जब मन्दिर चार्ज्ड हो। वहाँ का हर जर्रा-जर्रा, मंदिर की ईंट-ईंट का टुकड़ा-टुकड़ा, द्वार-दरवाजे सब आविष्ठ हो गये हों। मंदिर अब जीवित ध्वनियों का हो।

हर मन्दिर के सामने लटका हुआ जो घण्टा है उसे भी चार्ज करने के लिए बड़े अद्‌भुत ढंग से प्रयोग होता है। जो आदमी मंदिर में प्रवेश करे वह घण्टा बजायेगा। यानी वह मंदिर में आने की अपनी सूचना दे रहा है। कभी मन्दिर में

जाकर घण्टा बजाएं, सोये मन से नहीं, पूरे होशपूर्वक घण्टा बजाएं ! घण्टा बजाने से आपके विचार में डिसकंटीन्युटी पैदा होती है । आप जो सोचते आ रहे थे उसमें ब्रेक लगता है । घण्टे की आवाज विचारों को अस्त-व्यस्त कर जाती है । ये आपके नया होने का एक **क्षण** है । और घण्टे की जो आवाज है, उस आवाज में तथा 'ओम्' की आवाज में आंतरिक संबंध है । घण्टे की आवाज मन्दिर को चार्ज करती जाती है दिन भर । इसी प्रकार ओम् की आवाज भी चार्ज करती जाती है । ऐसे अन्तरसंबंधों की मंदिर में कितनी चीजें उपयोग की जाती थीं, चाहे घी से जलने वाला दिया हो, चाहे जलती हुई सुगन्ध हो, चन्दन हो, फूल हो । और हर देवता के लिए विशेष फूल प्रिय थे । ये कोई देवता के प्रिय होने का सवाल न था, लेकिन हर मंदिर की अपनी ध्वनिसंचरण व्यवस्था थी । उसमें कौन-सी ध्वनि हार्मोनियस है कौन-सी सुगन्ध के साथ, इस पर पूरा ध्यान था । सिर्फ वही फूल लाना है अन्दर मंदिर के, जिससे मन्दिर में पैदा होने वाली ध्वनि के साथ हार्मोनी रहती है और वही सुगंध भी । फिर दूसरे फूल अन्दर नहीं लाये जा सकते । मस्जिद में लोबान जलाया जायगा, मंदिर में अगरबत्ती जलेगी, धूप जलेगी, उन सबका ध्वनियों से सम्बन्ध था । 'अल्लाह' का जो उच्चार है, उसका जो सघन रूप है, उस रूप के साथ लोबान की सुगन्ध का तालमेल है । ये तालमेल बड़ी भीतरी खोज से मिले थे । यह ऐसे नहीं सोच लिये गये थे । ऊपर से सोचा भी नहीं जा सकता । इनके खोजने की बात आपसे कह दूं । अगर आप अल्लाह का उच्चार करते जायें अपने कमरे में बैठ कर, उस कमरे में जहां कि पहले कभी लोबान नहीं लाया गया है, और कमरा बन्द कर लें । अल्लाह का उच्चारण भी सिर्फ अल्लाह नहीं, 'अल्लाहू'; उसका ठीक उच्चारण है अल्ला...हू । 'हू' पर जोर होना चाहिए । धीरे धीरे अल्लाह छूटता जायगा और हू शेष रह जायेगा, अपने आप । और जिस दिन हू का ही उच्चार रह जायगा उस दिन आप अचानक पायेंगे कि आपके कमरे में लोबान की गंध फैल गई है । यह आपके भीतर से आती हुई गंध होगी । लोबान तो सिर्फ उस गंध की पैरेलल गंध है जो बाद में बाजार में खोजी गयी । खोजी इसलिए गई कि 'हू' के उच्चार से आपके भीतर से जो गंध आनी शुरू होती है उससे कोई मेल खाती गंध मिल जाय, तो हम मस्जिद में जला दें । क्योंकि वहां वह 'हू' के उच्चार करने वाले को सहयोगी हो जायेगी । दोहरा प्रयोग हो जायेगा । उसके भीतर से तो गंध जब उठेगी तब उठेगी, हम उसके बाहर पैदा कर देंगे । ओम् के साथ कभी भी भूल के भी किसी को लोबान का स्मरण नहीं आ सकता । उसकी चोट अलग जगह है, यहाँ से वह गंध नहीं निकल सकती ।

हमारे शरीर में गंध के भी क्षेत्र हैं। और हमारे मनोभावों से गंध के सम्बन्ध हैं। इसलिए जैन कहते हैं कि महावीर के शरीर से दुर्गन्ध नहीं निकलती, सुगन्ध ही निकलती थी,—और एक विशेष सुगन्ध ही। उस सुगन्ध के आधार पर तीर्थंकर पहचाना जाता रहा। महावीर के वक्त में आठ लोगों का दावा था कि तीर्थंकर थे, लेकिन सुगंध ने साथ नहीं दिया। आठ लोग दावेदार थे और महावीर से कोई कम नहीं था उन आठों में। ठीक उसी हैसियत के लोग थे। लेकिन उस मंत्र की धारा के लोग नहीं थे जिससे वह सुगन्ध निकले। इस वजह से वे दावे गलत हो गये। बुद्ध के बाबत भी लोगों का दावा था कि वह भी तीर्थंकर हैं। महावीर से कम उनकी हैसियत जरा भी न थी। बिल्कुल उसी हैसियत के आदमी थे। वही स्थिति थी उनकी, लेकिन उस मंत्र परम्परा के नहीं थे इसलिए महावीर का शरीर जो गन्ध दे पाता था वह बुद्ध का शरीर नहीं दे पाता था। निर्णय गन्ध से हुआ अन्ततः। महावीर के पास जाके एक विशेष गन्ध आनी शुरू हो जाती थी। उस वक्त ऐसे लोग जिन्दा थे जिन्होंने कहा कि ठीक यही पार्श्वनाथ के शरीर से भी गंध आती थी। अभी ज्यादा दिन पार्श्वनाथ को मरे नहीं हुए थे। गन्ध की यह स्मृतिसूचक व्यवस्था थी कि जब तीर्थंकर पैदा होगा, यही गन्ध होगी। एक विशेष मंत्र की जो अंतिम प्रक्रिया है उसके बाद ही तीर्थंकर हो सकता है। उससे यह गंध निकले, वह उसका प्रमाण होगी, उसका दावा नहीं होगा। इसलिए महावीर ने कोई दावा नहीं किया, वह तीर्थंकर हो गये। मखलीगोशाल ने बहुत दावा किया लेकिन वे तीर्थंकर नहीं हो सके। आपको हैरानी मालूम होगी कि गन्ध से तीर्थंकर तय होते थे। आसान नहीं था मामला। उतनी ही गहरी परीक्षा चाहिए थी, शब्द कुछ कह नहीं सकते थे। पूरा व्यक्तित्व गन्ध देना चाहिए कि उस व्यक्ति के भीतर वह फूल खिला है! उस मंत्र की अंतिम प्रक्रिया पूरी हो गयी, जहाँ से तीर्थंकर जन्मता है। नहीं तो उसको तीर्थंकर नहीं मानते। मखलीगोशाल का दावा था, अजितकेश कंबल कह रहा था, संजय, विलेटीपुत्र सब दावेदार थे। ये सब बड़े लोग थे, किंतु इन सबके नाम खो गये। उस वक्त ये सब महावीर की हैसियत के लोग थे। इनमें से प्रत्येक के लाखों शिष्य थे और उनका दावा था कि हमारा आदमी तीर्थंकर है। उधर महावीर बिलकुल चुप थे इस मामले में, कभी उन्होंने दावा नहीं किया। और अन्ततः लोगों ने कहा कि तीर्थंकर तो वही आदमी है जिसके शरीर से वही गन्ध प्रवाहित हो रही है!

प्रत्येक मंत्र से होने वाली अपनी गंध है। ओम् का जिन्होंने पाठ किया है उन्होंने गंध जानी है। प्रत्येक मंत्र से, भीतर पैदा होने वाले प्रकाश का भी अनु-

बंध है। उस प्रकाश के आधार पर मंदिर में कितना प्रकाश हो, उसका इन्तजाम किया गया। उससे ज्यादा नहीं। आज जो बिजली के बल्ब मंदिर में लगा के बैठे हैं उनके पागलपन का कोई अंत नहीं। इससे कोई लेना-देना नहीं है। क्योंकि वहां, ठीक अंतर आकाश में जितना प्रकाश होता था, उतनी ही प्रकाश की व्यवस्था मन्दिर में करनी थी। बहुत मद्धिम, अनाक्रमक प्रकाश ! इसलिए घी को चुना ! बहुत अनाक्रमक, आंख को चोट करता हुआ नहीं। यह एकदम से ख्याल नहीं आयेगा कि हमने कभी प्रकाश पर आंख के टिकाने का कोई अभ्यास भी किया था। मिट्टी के तेल का दिया जला लें और उस पर घण्टे भर आंख को रोक कर बैठ जायं। फिर घी का दिया जलायें, उस पर घण्टे भर आंख को रोक कर देखें। मिट्टी के तेल के दिये पर घण्टे भर के बाद आंख जलेगी, दुख पायेगी और थक जायेगी। और घी के दिये पर घंटे भर में आपके आंख की ज्योति बढ़ेगी और आंखें ज्यादा शांत और स्निग्ध हो जायेंगी। यह हजारों लोगों के अन्तर-अनुभव थे, जिसको बाहर व्यवस्था दी गयी। पैरेलल थे बाहर के। निश्चित ही कोई बाहर ठीक वह दिया नहीं खोज सकते जो भीतर हो सकता, लेकिन निकटतम, एप्रोक्सिमैट, जो हो सकता था उस वक्त वह उन्होंने खोज लिया। बाहर हम ठीक वह सुगन्ध नहीं खोज सकते जो भीतर पैदा होगी मंत्र के उच्चार से, लेकिन फिर भी निकटतम हम खोज लेते हैं।

चन्दन सारे मंदिरों में प्रीतिकर हो गया। चंदन का टीका हम जहाँ लगाते हैं वह आज्ञाचक्र है। मंत्र हैं, जिनके अनुभव से भीतर चन्दन की सुगन्ध पैदा होनी शुरू होती है, लेकिन उस सुगन्ध का स्रोत सदा ही आज्ञाचक्र होता। जब भी यह अनुभव आता है तो ऐसा ही लगता है कि आज्ञाचक्र से सुगन्ध निकल रही है और चारों तरफ फैल रही है। वही पैरेलल प्रतीक ! हमने चन्दन घिस के आज्ञाचक्र पर लगाया। जब भीतर आज्ञाचक्र पर सुगन्ध पैदा होती है तो इतनी शीतलता का अनुभव होता है जैसे बर्फ का टुकड़ा रख दिया है। ध्यान रहे, शीतल और ठण्डी चीज में फर्क है। ठीक वैसा ही फर्क, जैसे कि मिट्टी के तेल के दिये में और घी के तेल के दिये में है। बर्फ ठण्डा जरूर है, शीतल नहीं है। बर्फ का, थोड़ी देर के बाद का अनुभव गर्मी का होगा, उत्ताप का होगा। ठंडक जरूर है, शीतल नहीं। जो अंतिम फलश्रुति निकलेगी वह तो उत्ताप ही निकलने वाली है। आप और गर्म हो गये होते हैं। लेकिन चन्दन शीतल है, ठण्डा नहीं है। सिर्फ शीतल है। यह बहुत आर्द्र स्थिति है, और जिसमें डेप्थ है। आपके सिर को हम बर्फ से छुआ दें तो वह सिर्फ सतह को छता है। अब चन्दन को लगा के देखें। आज्ञाचक्र पर बर्फ को

लगाकर देखें थोड़ी देर, और बर्फ को अलग रख दें, तो आप पायेंगे कि एक सतह पर उसने छुआ, चमड़ी के पार वह नहीं गया, वहां उत्ताप पैदा कर गया। फिर चन्दन को लगा लें। थोड़ी देर के बाद आपको लगेगा कि चमड़ी के पार उसकी शीतलता उतरती जा रही है। चमड़ी के पार! चमड़ी के पार न पहुंचे तो बेकार है, क्योंकि जो चक्र है वह तो चमड़ी के पार है। जिन लोगों को आज्ञाचक्र की गति का अनुभव हुआ और उन्होंने वहां शीतलता जानी, उन्होंने चन्दन को खोज लिया। उसकी सुगन्ध भी ठीक वैसी है जैसी भीतर अनुभव हुई। ये सारे के सारे उपकरण समानान्तर हैं। और जब मंदिर इन सबसे भरा होता है तो आविष्ठ होता है। इसलिए मंदिर में कोई बगैर स्नान किए न जाय। हम उसके व्यक्तित्व के, क्षण भर को ही सही, पुराने तारतम्य को तोड़ना चाहते हैं। बिना घण्टा बजाये न जाय, बासे कपड़े पहन के न जाय। सच तो यह है कि मंदिर में ठीक कपड़े पहनने के लिए जो व्यवस्था थी, वह रेशम की थी। क्योंकि रेशम शरीर की विद्युत को पैदा करने में बड़ा अद्‌भुत था और उसको संरक्षित करने में भी। और कितना ही पहनें, बासेपन का ख्याल नहीं पकड़ता। किसी गहरे अर्थ में ताजा बना रहता है। इस सारी व्यवस्था से अगर कोई मंदिर चलता हो तो वह मंदिर चार्ज्ड, आविष्ट हो जाता है। उसके पास से भी कोई गुजरेगा तो उस मंदिर का फील्ड पैदा हो जाता है।

महावीर के बाबत कहा जाता है कि महावीर जहां चलते उससे इतनी-इतनी सीमा के भीतर हिंसा नहीं हो सकती थी। वह उनका चार्ज्ड फील्ड था। इतनी-इतनी सीमा के भीतर हिंसा नहीं हो सकती थी। वह जहाँ से गुजरेंगे उनका फील्ड उनके साथ चलेगा। वह चलते हुए मन्दिर हैं। उतनी सीमा के भीतर कुछ भी हो रहा हो, वह तत्काल बदल जायगा। पूरा नो स्फियर हो जायगा। तिलार जार्जिन ने एक नया शब्द गढ़ा है 'नो स्फियर', एटमास्फियर की जगह। एटमास्फियर का तो मतलब होता है वातावरण। नो स्फियर को हिंदी में हम कह सकते हैं 'विचार-आवरण', 'मनस आवरण'। एक मन का भी आवरण है। उस फील्ड में ऐसी घटनाएं नहीं घटतीं। इसलिए पुराने गुरु के आश्रम में अगर कोई गलत काम हो जाय तो शिष्यों को सजा नहीं दी जाती थी, गुरु अपने को सजा देता था। उसका मतलब है कि फील्ड नहीं रहा। उसका कोई कारण नहीं था कि शिष्य को कुछ कहा जाय। व्यर्थ है कहना उसको। उसका मतलब यह है कि गुरु की क्षमता नहीं रही। नहीं तो एक विशेष सीमा के भीतर तो वह नहीं हो सकता था जो हुआ है। दोष देने का किसी को कोई कारण नहीं है। गुरु स्वयं पश्चात्ताप करेगा, तपश्चर्या करेगा, उपवास करेगा, आत्मशुद्धि करेगा। मगर गांधी जी ने उसको बहुत गलत

पकड़ा । वह आत्मशुद्धि दूसरे के लिए प्रताड़ना नहीं है । वह ऐसी नहीं है कि इस तरह हम अपने की सतायें, तो उससे दूसरे पर दबाव डाल देंगे, और उसका अन्तःकरण बदल देंगे । वह समझ नहीं पाये । उनको उसका पता भी नहीं था । गुरु ऐसा करता था, वह उसको बदलने के लिए नहीं करता था, वह सिर्फ जो फील्ड है उसके आसपास, उसको बदलने के लिए करता था । और अगर वह फील्ड बदलता है, वह विचार-आवरण बदलता है, तो वह आदमी बदलेगा । वह दबाने के लिए, सताने के लिए नहीं था कि मैं अपने को सता रहा हूं, तो तू अब बदल । ऐसा उसके अन्तः-करण-शुद्धि का सवाल नहीं था । अंतःकरण का सवाल नहीं, चारों तरफ़ की हवा बदल जाने की बात है । वह एक मैगनेटिक फील्ड है, जो हर ऐसा व्यक्ति लेकर चलता है ।

ये व्यक्ति गतिमान मंदिर थे । महावीर जैसे व्यक्तियों को हम एक जगह नहीं बिठा सकते हैं । सदा के लिए नहीं बिठा सकते हैं । हमें कुछ ज्यादा चाहिये जो गांव की जिन्दगी का केन्द्र बन जाय, जिसके आस-पास गांव बदलता रहे । जहां निरन्तर हम कुछ डालते रहें मंदिर में जाकर, और मंदिर से हम लेते रहें । जिसका हमें पता भी न चले, यह सब अनजान चुपचाप हो जाय । मन्दिर के पास से निकलें तो कुछ हो जाय । कोई भी निकले मन्दिर के पास से तो कुछ हो जाय । एक बहुत बड़ा मैगनेटिक फील्ड है मंदिर, बाहर के लिए । एक बाहरी प्रयोग के लिए उसको खड़ा किया था । जैसे कि चुम्बक के पास लोहा भी आये तो चुम्बकीय मालूम पड़ने लगे, वैसे ही मंदिर के पास कोई आये तो मंदिर उसे घेर ले और छा ले । तो ऐसा मन्दिर का क्षेत्र था ।

मूसा के जीवन में उल्लेख है कि जब मूसा पहाड़ पर गये, उन्होंने पहाड़ पर दिव्य अग्नि जलते देखी । एक झाड़ी में आग लगी है । पूरी झाड़ी जलती है, चारों तरफ आग है, फिर भी बीच में झाड़ी में फूल खिले हैं और झाड़ी में हरे पत्ते हैं । मूसा परमात्मा की खोज में है, वह एकदम आगे बढ़ा, तो झाड़ी से जोर से आवाज आयी कि 'नासमझ, जूते सीमा के बाहर छोड़ दे'। सीमा वहां कोई न थी, खुला जंगल था । तो मूसा ने चल कर देखा कि सीमा कहाँ है ? और जब उसको अनु-भव हो गया कि सीमा यहाँ है, यानी जहां तक मूसा मूसा रहा, और जहां से एक कदम आगे बढ़ा और उसे लगा कि कुछ बदला, वहां उसने जूते बाहर रख दिये । यह है मैगनेटिक फील्ड ! उसने जूते बाहर रख दिये और माफी मांगी कि मुझे क्षमा कर देना, पवित्र भूमि में जूता ले आया ।

मन्दिर का एक वर्तुल है, उसके अपने आविष्ठ क्षेत्र का, जो बहुत जीवन्त

है। उस जीवन्त वर्तुल का पूरे गांव के लिए उपयोग था। और उससे परिणाम आये थे। हजारों-हजारों साल तक भारत के गांव की जो निर्दोषता, पवित्रता थी, उसके लिये गांव कम जिम्मेदार था, उस गांव का मन्दिर आविष्ठ था, वही ज्यादा जिम्मेवार था। तो जिस गांव में मंदिर नहीं था, उससे दीन गांव नहीं था कितना ही गरीब गांव हो, मंदिर तो उसका होना ही था। मन्दिर के बिना सब अस्त-व्यस्त था। हजारों वर्ष तक गांव ने एक तरह की पवित्रता कायम रखी। उस पवित्रता के बड़े अदृश्य स्रोत हैं। पूरब की संस्कृति को तोड़ने के लिए जो सबसे बड़ा काम हो सकता था वह मंदिर के आविष्ठ रूप को तोड़ देना था। मन्दिर का आविष्ठ रूप टूट जाय तो पूरब की पूरी संस्कृति का जो आत्मस्रोत है वह बिखर जाता है।

इसलिए आज मन्दिर पर भारी संदेह है। और जो भी थोड़ा पढ़ा-लिखा हुआ, जिसे मंदिर के जीवन्त रूप का कोई अनुभव नहीं रहा, उसने केवल शब्द और तर्क सीखे स्कूल और कालेज में। जिसके पास सिर्फ बुद्धि रही और हृदयगत कोई द्वार न रहा, उसे मन्दिर के पास जाकर कुछ दिखायी नहीं पड़ा। उसने कहा, कुछ भी नहीं है मंदिर में। धीरे धीरे मंदिर का अर्थ टूटता चला गया। भारत पुनः कभी भारत नहीं हो सकता जब तक उसका मन्दिर जीवन्त न हो जाय। उसकी सारी कीमिया, सारी अल्केमी ही मंदिर में थी, जहां से उसने सब कुछ लिया था। चाहे बीमार हुआ हो तो मन्दिर भाग कर गया था, चाहे दुखी हुआ तो मन्दिर भाग कर गया, चाहे सुखी हुआ तो मंदिर धन्यवाद देने गया था। घर में खुशी आयी हो तो मन्दिर में प्रसाद चढ़ा आया। घर में तकलीफ आयी हो तो मन्दिर में निवेदन कर आया। सब कुछ उसका मन्दिर था। सारी आशाएं, सारी आकांक्षाएं, सारी अभीप्साएं उसकी मन्दिर के आस-पास थीं। खुद कितना ही दीन रहा हो, मंदिर को उसने सोने और हीरे-जवाहरातों से सजा रखा था। आज जब हम सोचने बैठते हैं तो यह बिल्कुल पागलपन मालूम पड़ता है कि आदमी भूखों मर रहा है और मंदिर की प्रतिष्ठा हो रही है। मंदिर को हटाओ, एक अस्पताल बना लो। एक स्कूल खोल दो। इसमें शरणार्थी ही ठहरा दो। इस मन्दिर का कुछ उपयोग कर लो। क्योंकि मन्दिर का वास्तविक उपयोग हमें पता नहीं है, इसलिए वह बिल्कुल निरुपयोगी मालूम हो रहा है। लगता है उसमें कुछ भी तो नहीं है। फिर मंदिर में क्या जरूरत है सोने की, क्या जरूरत है चांदी की, और मंदिर में क्या जरूरत है हीरों की, जब कि लोग भूखों मर रहे हैं! ध्यान रहे वहां भूखों मरने वाले लोगों ने ही हीरा और सोना बहुत दिन से लगा रखा है। उसके कुछ कारण थे। जो भी

उन लोगों के पास श्रेष्ठ था वह मन्दिर में रख आये थे। क्योंकि जो भी उन्होंने श्रेष्ठ जाना था वह मन्दिर से ही जाना था। इसके उत्तर में उनके पास कुछ देने को नहीं था। न सोना कोई उत्तर था, न हीरे कोई उत्तर थे। लेकिन जो मिला था मन्दिर से, उसके प्रति कृतज्ञता से भर कर हम सब कुछ वहां दे सकते थे। जो भी हम वहां रख आये थे। अकारण नहीं था वह। क्योंकि लाखों साल तक अकारण कुछ नहीं चलता। ये मंदिर के बाहरी, उसके आविष्ठ रूप के अदृश्य परिणाम थे, जो चौबीस घण्टे तरंगायित होते रहते थे। उसके चेतन परिणाम भी थे। उसके चेतन परिणाम बहुत सीधे साफ थे।

आदमी को निरन्तर विस्मरण है। जो महान है विस्मृत हो जाता है, और जो क्षुद्र है चौबीस घण्टे याद रहता है। परमात्मा को याद रखना पड़ता है, वासना को याद रखना नहीं पड़ता, वह याद रहती है। गड्ढे मे उतर जाने में कोई कठिनाई नहीं होती, पहाड़ चढ़ने में कठिनाई होती है। तो मन्दिर गांव के बीच में निर्मित करते थे ताकि दिन में दस बार आते-जाते रहें। वह हमारी आकांक्षा को भी निरन्तर जगाये रखे। और ध्यान रहे, हममें से बहुत कम ऐसे हैं जिनकी आकांक्षा सहज आंतरिक रूप से जगती है। हममें से बहुतों की आकांक्षाएं सिर्फ चीजों को देखकर ही जगती हैं। अगर हवाई जहाज नहीं था दुनिया में तो आपको हवाई जहाज में उड़ने की कोई आकांक्षा नहीं जगती थी। हां, किसी राइट ब्रदर्स को जगती। जो एकाध्र आदमी है जो हवाई जहाज बनाता है, उसको जगती है, क्योंकि वह तो हवाई जहाज निर्माण करता है, लेकिन आप को कभी नहीं जगती। आप हवाई जहाज देखेंगे तो अवश्य जगेगी। हमें चीजें दिखायी पड़ती हैं तो हमारे भीतर उन्हें पाने की आकांक्षा जगती है। तो मंदिर के रूप में परमात्मा का कहीं न कहीं कोई साकार रूप हमें दिखायी पड़ता था, जो हम अन्धों के मन में कहीं प्रवेश करता था। खास तौर से उन लोगों के मन में जो कि निराकार के लिए आतुर नहीं हो सकते थे। जो हो सकते थे निराकार के लिए राजी, उनके लिए तो कोई सवाल नहीं था मंदिर का। उन्होंने तो इस लिहाज से मन्दिर को नुकसान पहुंचा दिया। उसमें भूल हुई। जो हो सकते थे निराकार से आविष्ठ, उन्होंने कहा बेकार हैं मंदिर, उन्हें हटा दो। मैं खुद ही निरन्तर कहता रहा हूं कि बेकार हैं, हटा दो। लेकिन धीरे धीरे मुझे ख्याल में आया कि यह मैं कह रहा हूं, और मन्दिर हट गया तो जिनको आकार से कुछ स्मरण नहीं आया उनको निराकार से कैसे आ सकेगा? तो इस लिहाज से कई बार कठिनाई हुई है। महावीर अगर अपनी हैसियत से बोलेंगे तो कहेंगे, हटा दो। क्योंकि महावीर को कोई जरूरत नहीं पड़ी।

लेकिन कभी आपका ख्याल आ जाय तो इसे रोक लेना पड़ेगा। यह आपके लिए चौबीस घण्टे आकांक्षा का एक नया स्रोत बना रहता है। एक और द्वार भी है जीवन में—दुकान और घर ही नहीं, धन और स्त्री ही नहीं—एक और द्वार भी है जीवन में जो न बाजार का हिस्सा है, न वासना का हिस्सा है। न धन मिलता है वहां, न यश मिलता है वहां, न काम-तृप्ति होती है वहां। एक जगह और भी है, यह गांव में ही नहीं है, जीवन में एक जगह और है। इसके लिए धीरे धीरे यह मन्दिर रोज आपको याद दिलाता है। और ऐसे क्षण हैं, जब बाजार से भी आप ऊब जाते हैं, और ऐसे क्षण हैं जब घर से भी ऊब जाते हैं। तब मन्दिर का द्वार खुला है। ऐसे क्षण में तत्काल आप मंदिर में ठहर पाते हैं। मन्दिर सदा तैयार है। जहाँ मंदिर गिर गया वहां फिर बड़ी कठिनाई है, विकल्प नहीं कोई है। घर से ऊब जायं तो होटल हो सकता है, रेस्तरां हो सकता है। बाजार से ऊब जायं, पर जायें कहां? कोई अलग डायमेंशन, कोई अलग आयाम नहीं है। बस वही है,—वहीं के वहीं घूमते रहते हैं। मन्दिर एक बिल्कुल अलग डायमेंशन है जहाँ लेन-देन की दुनिया नहीं है। इसलिए जिन्होंने मंदिर को लेन-देन की दुनिया बनाया उन्होंने मन्दिर को गिराया। जिन्होंने मन्दिर को बाजार बनाया, उन्होंने मन्दिर को नष्ट किया। जिन्होंने मन्दिर को भी दुकान बना लिया, उन्होंने मन्दिर को भ्रष्ट कर दिया। मन्दिर लेन-देन की दुनिया नहीं है। सिर्फ एक विश्राम है। एक विराम है, जहां आप सब तरफ से थके-मांदे चुपचाप सिर छिपाते हैं। वहां की कोई शर्त नहीं है कि आप इस शर्त से आओ। इतना धन हो तो आओ, इतना ज्ञान हो तो आओ, कि इतनी प्रतिष्ठा हो तो आओ, कि ऐसे कपड़े पहनकर आओ कि मत आओ। वहां की कोई शर्त नहीं है। आप जैसे हो, मंदिर आपको स्वीकार कर लेगा। कहीं कोई जगह है जहां जैसे आप हो वैसे ही आप स्वीकृत हो जाओगे; ऐसा भी सरल स्थल है। आपकी जिन्दगी में हर वक्त ऐसे मौके आये होंगे जब कि जो जिन्दगी है तथाकथित उससे आप ऊबे होंगे, उस क्षण प्रार्थना का दरवाजा खुला होगा! और एक दफा भी वह दरवाजा आपके भीतर भी खुल जाय तो फिर दुकान में भी खुला रहेगा, मकान में भी खुला रहेगा। वह द्वार निरन्तर पास होना चाहिए, जब आप चाहो वहां पहुंच सको। क्योंकि आपके बीच जिसको हम विराट् का क्षण कहें वह बहुत अल्प है। कभी क्षण भर को होता है। जरूरी नहीं कि आप तीर्थ जा सको, जरूरी नहीं कि महावीर को खोज सको कि बुद्ध को खोज सको।

वह क्षण अल्प है, उस क्षण बिल्कुल निकटतम आपके कोई जगह होनी चाहिए जहां आप प्रवेश कर सकें। इस स्मृति के अद्‌भुत परिणाम हैं। जैसे छोटे बच्चे हैं—हम सभी छोटे बच्चे थे, और जो भी होगा वह छोटा बच्चा ही होगा पहले तो। वैज्ञानिक कहते हैं कि सात साल में बच्चा करीब करीब जो भी आधारभूत है, वह ख लेता है। फिर इसी अधारभूत पर फैलाव हो सकता है। लेकिन नया बहुत कम जोड़ा जाता है। जुड़ता है, उसी दायरे में। कुछ नया नहीं जोड़ा जाता। अगर हमने सात साल के बच्चे तक की जिन्दगी में मन्दिर नहीं जोड़ा, तो आप दोबारा नहीं जोड़ पायेंगे। बहुत कठिन हो जायगा फिर जोड़ना। और यदि जोड़ने की मेहनत की भी गई तो वह कभी गहरा नहीं हो पायेगा, ऊपर ऊपर से रह जायेगा। तो बच्चा पहले दिन पैदा हुआ और उसकी पहली स्मृति हम मंदिर की बनाना चाहते थे। वह मन्दिर के पास ही बड़ा हो, वह मंदिर को जानता हुआ बड़ा हो, वह मन्दिर को पहचानता हुआ बड़ा हो। मंदिर उसके अंतरंग का हिस्सा बन जाय। जब वह जिन्दगी में प्रवेश करे तो उसके भीतर मन्दिर की एक जगह बन जाय। क्योंकि अंततः वही जगह उसका विश्रामस्थल बनेगी जीवन के अंत में! सारी दौड़-धूप के बाद वही कोना उसका आखिरी घर और निवास होने वाला है। वह हमें पहले ही बना देना है। एक दफा वह नहीं बना तो फिर बहुत कठिनाई हो जाती है। अभी तो इतनी सरलता से बन सकती है, फिर वह जगह निर्मित नहीं हो सकती।

बाहर जो भी लोग जी रहे हैं मंदिर के प्रतिबिंब उनके चित्त में उतरने चाहिए। वह उनके अचेतन में इतने गहरे उतर जायं कि सोच-विचार का भी हिस्सा न रह जाय, वह उनके हिस्से ही हो जायं। इसलिए सारी पृथ्वी पर, चाहे रूप कोई भी हो,—अलग अलग रूप रहे, लेकिन मन्दिर अनिवार्य था। मनुष्य जिस सभ्यता और संस्कृति में जिया, उसका वह अनिवार्य अंग था। अब हम जो दुनिया बनाने जा रहे हैं उसमें मंदिर अनिवार्य नहीं रह गया। कुछ और चीजें अनिवार्य हो गयीं। स्कूल हैं, अस्पताल हैं, पुस्तकालय हैं, पर ये सब अति लौकिक हैं, इनसे कुछ पार का, 'बियोन्ड' का, कोई संबंध नहीं जुड़ता है। सदा ही, वह जो अतिक्रमण कर जाता है जीवन का, उसकी तरफ इशारा बना रहे। सुबह हमारी आंखें खुलें तो मंदिर की घण्टी बजती हुई सुनायी पड़े। रात में सोने जाते हों तो मंदिर का भजन हमें सुनायी पड़े। हम न भी करें, तो भी मंदिर का भजन हमारे कान में पड़े।

महावीर के जीवन में एक कथा है, कि एक आदमी है चोर। मर रहा है,

अपने बेटे को उसने कहा, जब बेटे ने पूछा है कि कोई आखिरी शिक्षा है मेरे लिये ? तो उसने कहा, एक ही शिक्षा है कि यह जो महावीर नाम का आदमी है इसके पास मत खड़े होना। यह अगर तुम्हारे गांव में बोलता हो तो दूसरे गांव में भाग जाना। यह अगर रास्ते से गुजरता हो तो फौरन गली-कूचे में कहीं भी निकल के छिप जाना। अगर पता न चले और तुम ऐसी जगह जाओ जहां उसकी आजाज सुनायी पड़ गयी तो फौरन कान बन्द करके, आंख बन्द कर के दौड़ आना। इस आदमी से बचना। चोर के लड़के ने कहा, "लेकिन इतना डरने की इस आदमी से क्या जरूरत है ?" उसने कहा, "मैं तुमसे कहता हूं, वह मानो। ऐसे आदमियों के पास गये तो अपना धंधा सदा खतरे में होगा, फिर हम नहीं जी सकते। इनसे बचना।" फिर बड़ी मजेदार कथा है। वह बचता है जिन्दगी भर। सदा भागता रहा। जहां महावीर जाते, वह वहां से भाग जाता। लेकिन एक दिन भूल हो गयी। वह एक रास्ते से गुजरता था और आम्रवन में महावीर बैठे थे, उसे कुछ पता न था। बोल नहीं रहे थे। जब वह आया था पास, तब बोल नहीं रहे थे। अचानक उन्होंने बोलना शुरू किया तो आधा वाक्य उसको सुनायी पड़ गया। उसने कान बन्द किये और भागा। लेकिन आधा वाक्य सुनायी पड़ ही गया। अब वह बड़ी मुश्किल में पड़ गया। आधा वाक्य ? पुलिस उसके पीछे थी, राज्य उसके पीछे था—कोई दस-पन्द्रह दिन बाद वह पकड़ा गया। वह कुशल चोर था, पीढ़ियों का उसका धन्धा था। इतना कुशल चोर था कि राज्य के पास कोई भी प्रमाण न था। जाहिर था चोर वही है, जाहिर था बड़ी चोरियां उसी ने की हैं। सबको पता था। इसमें छिपा भी कुछ न था। जाहिर रहस्य था। लेकिन फिर भी प्रमाण कुछ न था। कुशल इतना था कि लोगों के घरों में खबर करके चोरी कर लेता था, पर प्रमाण नहीं मिलते। तो सिवाय इसके कोई रास्ता नहीं था कि कोई प्रमाण उससे ही निकलवाया जाय। उसे गहरा नशा करके बेहोश किया गया, इतना बेहोश रखा कि उसे दो-तीन दिन बिलकुल होश में नहीं आने दिया। दो-तीन दिन के बाद वह होश में आया। उसने आंख खोली, तो तीन दिन की बेहोशी थी, देखा चारों तरफ कि अप्सराएं खड़ी हैं। उसने पूछा—मैं कहां हूं ? तुम मर गये हो और तुम्हें स्वर्ग या नर्क ले जाने की तैयारी की जा रही है। हम सिर्फ ले जाने वाले हैं। तुम होश में आ जाओ, इसकी प्रतीक्षा कर रहे हैं, ताकि हम तुमसे पूछ लें। अगर तुमने जो जो पाप किये हैं वह तुम कह दो तो तुम स्वर्ग जा सकते हो, और न कहो तो नर्क। सत्य बोल दो, बस इतना काफी है। उसका मन हुआ कि बोल दे सत्य, स्वर्ग जाने का मौका न चूके। जब मर ही गया

तो अब क्या डर है ? लेकिन तभी उसे महावीर का वह आधा वचन याद आया। जब वह गुजर रहा था उस वक्त महावीर कुछ देवताओं और प्रेतों के संबंध में बोल रहे थे। मृत्यु के पार जो यम ले जाते हैं उनके संबंध में कुछ इशारे थे। आधा वाक्य उसने सुना था। महावीर कह रहे थे कि वह जो ले जाते हैं मृत्यु के बाद, उनके पैर उल्टे होते हैं। उसने उनके पैर देख लिये, वे सब तो सीधे थे। वह सजग हो गया। उसने सोचा इस झंझट में पड़ने की कोई जरूरत नहीं है। समझ गया कि कुछ गड़बड़ मामला है। होश आ गया। उसने कुछ कहा नहीं। उसने कहा, पाप तो कुछ किये नहीं, तो वक्तव्य क्या दूं। नर्क ही ले चलो। पर जब पाप मैंने कुछ किये नहीं तो नर्क तुम ले जाओगे कैसे ? उसे छोड़ दिया गया। वह भागा हुआ महावीर के पास पहुंचा, जा कर उनका पैर पकड़ लिया और कहा कि पूरा वाक्य करो, आधे वाक्य ने बचा लिया। अब तुम्हारा पूरा वाक्य सुन लूं। मैं भाग तो रहा था। आधा ऐसे ही सुन लिया था भागते-भागते। उसने बचा ली जिन्दगी, नहीं तो फांसी लग गयी होती ! अब तुम पूरा कह तो प्रभु ! कि क्या कहना है, नहीं तो फांसी कभी न कभी लगेगी। अब मैं आ गया तुम्हारी शरण ! तो महावीर अक्सर कहा करते थे कि आधा वाक्य भागते हुए जबरदस्ती सुना गया भी कभी काम का हो जाता है। तो मंदिर के पास से कभी भागता हुआ आदमी, ऐसे अकारण गुजरता हुआ आदमी, कभी उसके भीतर से उठती हुई ध्वनि को, कभी उसके भीतर से आती सुगन्ध को ऐसे ही सुन ले, तो भी काम आ सकती है।

★

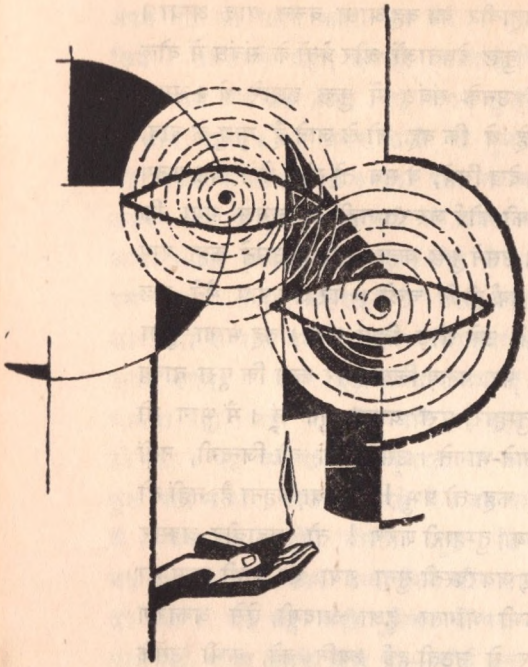

संघ क्या ! संगठन कैसा ! पूजा किसकी ?

शब्दों की अपनी यात्राएं हैं । २५०० साल पहले जिस शब्द का जो अर्थ था, आज उस शब्द का वही अर्थ नहीं है । इससे बड़ी भ्रांति पैदा होती है । महावीर ने जिसे संघ कहा था और हम जिसे संघ कहते हैं उसमें बड़ा फर्क पड़ गया है । महावीर संघ किसी संस्था को नहीं कहते थे, महावीर संघ कहते थे कुछ समान चेता, कुछ एक से संगीत अनुभव करने वाले लोगों के मिलन को । महावीर संघ कहते थे कुछ एक-सी यात्रा पर समस्वरता को अनुभव करने वाले लोगों की मित्रता को, सहपथिकों को, फेलो-ट्रेवलर्स को । महावीर के लिए संघ का अर्थ आर्गनाइजेशन नहीं है । संघ का अर्थ संगठन नहीं है, क्योंकि संगठन तो सदा किसी के खिलाफ करना पड़ता है । संगठन सदा ही किसी के खिलाफ होता है । संगठन किसी की शत्रुता में होता है, संगठन किसी से अपनी रक्षा के लिए होता है या किसी पर आक्रमण के लिए होता है । अब महावीर को न तो किसी से रक्षा करनी थी अपनी, और न किसी पर आक्रमण करना था, इसलिए महावीर के लिए संघ का अर्थ वह नहीं होता जो हमारे लिए होता है । हमारे लिए हम संघ बनाते ही तब हैं, जब मुसलमान कहता है संगठित हो जाओ, क्योंकि इस्लाम खतरे में है । हिंदू कहता है संगठित हो

जाओ, क्योंकि हिन्दू धर्म खतरे में है। हिन्दुस्तान कहता है संगठित हो जाओ; क्योंकि चीन हमला कर रहा है। पाकिस्तान कहता है संगठित हो जाओ; क्योंकि हिन्दुस्तान दुश्मन है, पड़ोस में खड़ा है। हमारे लिए संगठन का अर्थ सदा ही आक्रमण या रक्षा है। महावीर के लिए संघ का कुछ और ही अर्थ है। संघ का महावीर के लिए अर्थ है एक कम्यूनियन, संघ का महावीर के लिए अर्थ है समान खोजी, सहपथिकों का मिलन। यह कोई आर्गनाइजेशन की बाहरी व्यवस्था नहीं है। यह ऐसे ही है जैसे चार लोग एक गांव में संगीत को प्रेम करते हैं और वे चारों लोग बैठकर रात अपनी महफिल जमा लेते हैं। कोई तबला पीटता है, कोई हारमोनियम बजाता है। यह कोई संघ नहीं है, समान इच्छा रखनेवाले लोगों का मिल जाना है। एक गांव में चार आदमी ध्यान करते हैं। वे चार मिल कर एक कमरे में बैठ कर परमात्मा के लिए अपने को समर्पित करते हैं। यह कोई संघ नहीं है। यह किसी के खिलाफ नहीं है, किसी के पक्ष में नहीं है। यह मिलन है। महावीर के लिए संघ का अर्थ है कम्यूनियन, ऐसे लोगों का मिलन जो एक ही खोज पर, एक ही यात्रा पर निकलें। यह संघ उपयोगी हो सकता है, संगठन के अर्थों में नहीं, मिलन के अर्थों में। यह उपयोगी हो सकता है, बहुत उपयोगी हो सकता है क्योंकि इस जगत में हमारा सारा जीवन हमारे चारों तरफ जो है, उससे जुड़ा है। उस गांव में दस लोग संगीत को प्रेम करने वाले कभी साथ बैठकर गीत गा लेते हैं तो वे दसों ही एंग्विज्ड होकर वापस लौट रहे हैं, वे दसों ही ज्यादा समृद्ध हो जाते हैं।

मैंने सुना है कि अगर एक सितार को बजाया जाय एक सूने मकान में और दूसरे सितार को दूसरे कोने मे बिना बजाये रख दिया जाय, तो कुशल सितारवादक दूसरे के तारों को भी झनझना देता है। बजेगा एक ही, लेकिन इसकी स्वरध्वनियां उस दूसरे सोये हुए सितार के तारों को भी छेड़ देती है और वह भी झनझना उठता है। अगर दस ध्यान करने वाले इकट्ठे बैठकर ध्यान करते हैं और उनमें से एक भी बहुत गहराई में जा सकता है तो उससे उठे हुए वायब्रेशंस, उससे उठी हुई अनुगूंज दूसरों के सोये हुए ध्यान के तारों को भी झनझना देती है। इसलिए सामूहिक ध्यान का अपना उपयोग है, सामूहिक साधना का अपना उपयोग है, सामूहिक प्रार्थना का अपना उपयोग है और हम जो बहुत कमजोर लोग हैं उनके लिए समूह अर्थपूर्ण बन जाता है, बहुत अर्थपूर्ण बन जाता है।

महावीर ने जिन संघों की बात की है वे संघ समान खोज करने वाले लोगों के मिलन स्थल हैं। उस मिलन में किसी के प्रति पक्ष या विपक्ष से कोई प्रयोजन नहीं है। उस मिलन में प्रेम के अतिरिक्त और कोई कारण नहीं है और मैं मानता हूं कि ऐसे प्रेम

करने वाले लोग जरूर ही इकट्ठे होते रहने चाहिए। ऐसे प्रेम करने वाले लोग बुरी बातों के लिए तो इकट्ठे हो रहे हैं – चोर तो इकट्ठे हो जाते हैं, सज्जनों का इकट्ठा होना बहुत मुश्किल होता है। धूर्त तो इकट्ठे हो जाते हैं, साधुओं का इकट्ठा होना बहुत मुश्किल होता है। लेकिन धूर्तों का संघ किसी के पक्ष और किसी के खिलाफ होता है। साधुओं का संघ किसी के पक्ष या किसी के खिलाफ नहीं होता, सिर्फ मिलन के आनन्द के लिए होता है। दुनिया में अगर धूर्त ही इकट्ठे होते रहें तो धूर्तों के पास ज्यादा शक्ति इकट्ठी हो जाती है तो आश्चर्य नहीं है। साधुओं के भी कहीं इकट्ठे होने के उपाय होने चाहिए। इस गांव में बुरे लोग इकट्ठे होकर सब तरह का बुरा संवेदन पैदा करते रहे हैं। बुरे लोग इकट्ठे होकर होटलों में, क्लबो में सब तरफ इस गांव की तरंगों को दूषित और अंधकारपूर्ण करते रहे हैं, और अच्छे लोगों के लिए मिलन की कोई जगह न हो, जहां से वे भी सत्य के, जहां से वे भी प्रेम के संवेदन इस गांव में पैदा कर सकें, तो इस दुनिया का बहुत अहित होता है। मंदिर, मस्जिद, चर्च कभी ऐसे ही मिलने वाले लोगों के मिलन स्थल थे जिसमें गांव की शुद्ध तरंगें भी पैदा होती थीं और जहां से प्रेम की यात्रा पर भी पुकार आती थी। आज भी बजाते रहते हैं मंदिर में घंटे हम, लेकिन किसी को वे सुनायी नहीं पड़ते। कभी वे पुकार थे परमात्मा की, कभी वे स्मरण के स्रोत थे, कभी वे खबरें थीं कि उठो। कोई और भी है खोज, उसकी भी याद उनसे आती थी। अब भी मस्जिद से अजान दी जाती है, लेकिन लोगों की सिर्फ सुबह की नींद खराब होती है और कुछ भी नहीं होता। देनेवाला भी सिर्फ प्रोफेशनल है कि वह भी सुबह अजान दे देता है। वह भी सोचता है कि आज सुबह बड़ी जल्दी हो गयी मालूम होती है, आज सब बेमानी हो गया है। महावीर ने जो मिलन की कामना की थी वह अर्थपूर्ण है, वह संघ नहीं है। आज की भाषा में संघ कुछ और अर्थ रखता है, साधु की भाषा में कुछ और अर्थ रखता है। इतना ख्याल आ जाय तो कठिनाई नहीं रह जायेगी। लेकिन जितनी भी श्रेष्ठ चीजें हैं महावीर जैसे श्रेष्ठ व्यक्ति खड़े करते हैं। उन चीजों को लोग बचा नहीं पाते, दुर्भाग्य है। चेष्टा बहुत करते हैं कि बच जायं चीजें अपने शुद्धतम रूप में, लेकिन नहीं बच पातीं। उसका कारण है। महावीर अस्सी साल जिन्दा रहते हैं फिर विदा हो जाते हैं। जो दे जाते हैं वह हमारे हाथ में पड़ता है, जो महावीर नहीं है। जिनको उस चेतना की स्थिति से कोई भी संबंध नहीं है।

मैंने सुना है मौजेज के पास, मूसा के पास एक बांसुरी थी और उस बांसुरी को कभी कभी पहाड़ पर बैठकर वह बजाते थे। राह चलते

गड़रिये ठहर जाते थे। भीड़ रुक जाती थी, जंगल के हिरण इकट्ठे हो जाते थे, पक्षी मौन हो जाते थे, पक्षी उसे घेर लेते थे। फिर मौजेज मर गया, तो जिन गड़रियों ने उस दिव्य बांसुरी के स्वर सुने थे उन्होंने उस बांसुरी को वृक्ष के नीचे रखकर पूजा करनी शुरू कर दी। लेकिन वह बांस की पोंगरी थी। एक–दो पीढ़ी भी नहीं बीत पायी कि लोगों ने कहा कि इस कोरी बांस की पोंगरी में रखा क्या है, इसमें कुछ पूजा योग्य भी तो होना चाहिए। बड़े-बूढ़ों ने कहा, यह बात ठीक है और उन्होंने उस बांसुरी के ऊपर सोने का प्लस्तर चढ़ा दिया ताकि पूजा हो जाय। फिर जब वह सोने की हो गयी तो लोगों को लगी कि हां, अब बांसुरी की पोंगरी नहीं है, सोने की पोंगरी है। सोने की बांसुरी की पूजा होती रही। एक-दो पीढ़ी बाद लोगों ने कहा, कि ये क्या कोरा सोना लगा रखा है। लोग हीरे–जवाहरात खरीद लाये, उन्होंने हीरे–जवाहरात भी लगा दिये उस पर। लेकिन अब उसे कहीं से भी फूंकें उसमें स्वर न उठते थे। कोई संगीतज्ञ वहां से गुजरा तो उसने पूछा, मैंने सुना है यहां मूसा की बांसुरी की पूजा होती है। मैं उस बांसुरी के दर्शन करना चाहता हूं। जब वह गया देखने तो वहां बांसुरी थी ही नहीं। उस पर सोने का प्लस्तर चढ़ गया था। प्लस्तर के ऊपर हीरे-जवाहरात लग गये थे। उसने दोनों तरफ से फूंका। उसमें छेद ही न थे जहां से कि फूंकी जा सके।

महावीर की बांसुरी भी ऐसी ही हो जाती है, बुद्ध की बांसुरी भीं ऐसी ही हो जाती है जीसस की बांसुरी के साथ भी हम यही करते हैं। जिनके हाथ में पड़ती है, बाद वे सब कुछ विकृत कर लेते हैं। इस विकृति का जिम्मा महावीर या बुद्ध के ऊपर या कृष्ण के ऊपर नहीं है। इस विकृति का जिम्मा हमारे ऊपर है। और इसलिए अगर महावीर जैसा व्यक्ति आज लौट आये तो उसे महावीर के ही खिलाफ बोलना पड़ता है। बोलना पड़ता है इसलिए कि आपने महावीर की जो शक्ल बना दी है अब उस शक्ल को गिराना आवश्यक हो जाता है। अगर कोई संगीतज्ञ लौट आये तो उसे उसी बांसुरी के खिलाफ बोलना पड़ेगा और कहना पड़ेगा, यह बांसुरी नहीं है। अगर जीसस वापस लौट आयें तो उन्हें जीसस के खिलाफ बोलना पड़ेगा क्योंकि दो हजार साल में हमने जो शक्ल कर दी है वह जीसस भी नहीं पहचान पायेंगे कि कभी मैं आया था, यह मेरी शकल थी। आदमी के हाथ में पड़ के सब बिगड़ जाता है, लेकिन इसका कोई उपाय नहीं है। इसका सिर्फ एक ही उपाय है कि काश, मूसा के आस-पास प्रेम करने वाले लोगों को हम कहें कि तुम कृपा करके बांसुरी की पूजा मत करो, बांसुरी बजाना सीखो। अगर मूसा के आस-पास के लोग बांसुरी बजाना सीख जायं, मूसा जैसी न बजा पायें लेकिन बांसुरी बजाना

सीख लें तो एक बात कम से कम पक्की है कि बांसुरी पर सोना नही चढ़ेगा, हीरे-जवाहरात नही चढ़ाये जायेंगे; क्योंकि तब वह इतना कह सकेंगे कि बांसुरी की पूजा बांसुरी की नहीं है उससे पैदा होने वाले संगीत की पूजा है, और वह संगीत तभी पैदा होता है जब बांसुरी पोली हो। सोना भर दिया है तो संगीत पैदा नहीं होता है।

महावीर-बुद्ध की पूजा न की जाय, महावीर-बुद्ध के जीवन में जो घटित हुआ है, महावीर और बुद्ध के जीवन की जो ऊंचाइयां प्रगट हुई हैं, जिन शिखरों को, जिन गौरीशंकरों को उन्होंने छुआ है अगर हम भी छोटे-मोटे टीलों की भी खोज में निकल जायं तो शायद विकृति न हो। लेकिन हम पूजा में लग जाते हैं। पूजा विकृति बन जाती है। जिसको हम पूजते हैं उसको हम बिगाड़ते हैं। जिसे हम पूजते हैं उसे नष्ट करते हैं। क्योंकि धीरे धीरे हम जिसको पूजते हैं उसको अपनी शक्ल में गढ़ लेते हैं, तभी हम पूज पायेंगे। नहीं तो पूज नहीं पायेंगे। हम कहानियां गढ़ते हैं उसके आस-पास जो हमारी होती है। हम उसे पूजा योग्य बनाते चले जाते हैं। उसका व्यक्तित्व धीरे-धीरे सिर्फ मुर्दा राख रह जाता है। मूसा की बांसुरी करीब-करीब सारी दुनिया में सब लोगों के पास है लेकिन उसमें से कोई स्वर नहीं निकलते हैं। लेकिन क्या किया जा सकता है? आज तक ऐसा हुआ है। शायद आगे भी ऐसा ही होगा। दुर्भाग्यपूर्ण है! होना नहीं चाहिए। लेकिन हमारी आदतें हैं, हमारी मजबूरियां हैं। हम वही करते रहते हैं लेकिन फिर भी सचेत करने की कोशिश निरंतर की जाती रही है। बुद्ध लोगों से कहते हैं– मेरी पूजा मत करना। महावीर कहते हैं कि तुम स्वयं भगवान हो। जो आदमी दूसरों से कह रहा है कि तुम स्वयं भगवान हो, वह आदमी कह रहा है कि मेरी पूजा मत करो। वह आदमी यह कह रहा है कि तुम जिसकी पूजा करते हो वह तुम स्वयं हो। अब तुम्हें किसी और की पूजा की कोई भी जरूरत नहीं है। महावीर कहते हैं, अशरण हो जाओ, सब शरण छोड़ दो; क्योंकि तुम किसकी शरण जा रहे हो? तुम खुद वही हो जिसकी खोज चल रही है। लेकिन हम तुरन्त महावीर की शरण चले जाते हैं। हम कहते हैं, आपने अशरण का मार्ग बताया, बड़ी कृपा की। कम से कम आपके चरणों में तो हमें आ जाने दें। बुद्ध कहते हैं––पूजा मत करना। तो हम कहते हैं कि पूजा न करेंगे, लेकिन तुमने तो इतनी ऊंची बात कही, तुम्हारी पूजा तो कम से कम करन दो। तो हम बुद्ध की पूजा जारी कर देते हैं।

आदमी की बुनियादी भूलें कारण हैं। अभी तक आदमी जीतता रहा, महावीर

बुद्ध हारते रहे। पता नहीं आगे इस कहानी में फर्क पड़ेगा या नहीं पड़ेगा, कोशिश जारी रहनी चाहिए। कोशिश जारी रहनी चाहिए कि अब आगे बुद्ध और महावीर नहीं हार पायें। अब आगे जो व्यक्ति भी परमात्मा का संदेश लाये, वह लड़ता ही रहे और जो भूलें पीछे हो गयी हैं आदमी से, उनके खिलाफ चलता ही रहे। पक्का नहीं कहा सकता कि आदमी मानेगा, क्योंकि कुछ भी पक्का नहीं कहा जा सकता, लेकिन कोशिश जारी रहनी चाहिए।

एक बात अंत में इस प्रश्न के संबंध में यह कि कितनी भूल-चूक आदमी ने की हो और लोगों ने मूसा की बांसुरी पर कितना ही सोना चढ़ा दिया हो, अगर हम आज भी सोने को उखाड़ें तो मूसा की बांसुरी भीतर छिपी मिल सकती है। अनुयायियों ने महावीर पर जो जो थोपा है उसे अगर हम उतार दें, उनके सब आलेपन उतार दें; बुद्ध के माननेवालों ने जो जो पहनाया है वह सारे वस्त्र हम अलग कर दें, तो भीतर वह सत्य आज भी वैसा ही मौजूद है। लेकिन बुद्ध के आरोपण अलग करने जाइये, पच्चीस सौ साल पहले बुद्ध हुए, जरूरत क्या है? महावीर के आरोपण अलग करने जाइये, जरूरत क्या है? इतनी मेहनत से तो आप अपने भीतर के बुद्ध, अपने भीतर के महावीर के आरोपण अलग कर ले सकते हैं। और ध्यान रहे, जब तक मैं अपने भीतर महावीर को न पा लूं तब तक मैं बाहर किसी महावीर को पहचान नहीं सकता हूं। जब तक मैं अपने भीतर कृष्ण को न पा लूं तब तक कोई कृष्ण मेरे लिए सार्थक नहीं हो सकते। जब तक मेरे भीतर बुद्ध प्रगट न हो जायं तब तक बुद्ध का एक भी शब्द मेरे लिए मेरी भाषा का शब्द नहीं है। अपने को ही खोज लें तो हम सबको खोज लेते हैं।

★

परमप्रिय गुरुदेव

लेखिका : शिरीष पै ★ अनुवादिका : वंदना पुंगलिया

कुछ छः साल पहले की बात है। हमेशा की तरह मैं ठीक समय पर अपने ऑफिस में आकर बैठी थी। वे दिन ही कुछ ऐसे थे कि एक परेशानी-सी मुझे घेरे हुए थी। वैसे तो अपने रोज के काम मैं हंसकर निपटा लेती थी, लेकिन दिल हमेशा उदास

रहता था। कभी देखी हुई प्रकाश की किरणें भी कहीं खो गयी थीं, और पास था सिर्फ रोता-सिसकता दिल।

उस दिन भी अकेली ही बैठी काम कर रही थी। सामने डाक पड़ी थी। रोज की तरह कुछ कौतूहल के साथ ही मैंने डाक खोली और अभिप्राय के लिए आयी किताब जल्दी जल्दी पढ़ने लगी, क्योंकि मेरा विश्वास है कि आनेवाली डाक मेरे लिए कुछ न कुछ शुभ संदेश जरूर ले आती है।

उस किताब का नाम था 'साधना-पथ'। वह आचार्य रजनीशजी के हिंदी प्रवचनों का आनंद राजुरकरजी द्वारा किया हुआ अनुवाद था। इससे पहले तो मैंने आचार्यश्री का नाम भी नहीं सुना था। उनके बारे में मैं बिलकुल अनजान थी। उस किताब में चर्चित उच्च आध्यात्मिक विचार इतनी तड़प के साथ व्यक्त किये गये थे कि उस तड़प की उत्कटता में साकार हो रहे आचार्यश्री के व्यक्तित्व ने मुझे उसी क्षण आकर्षित कर लिया था। उस दिन शाम को मैं 'साधना-पथ' लेकर ही घर लौटी।

मैं उसे पढ़ने में लग गयी। कुछ क्षणों बाद ही मेरे मन से परेशानी और उदासी के बादल कहीं हट गये। दिल में प्रकाश ही प्रकाश फैल गया। जिन प्रकाश किरणों को मैं खो बैठी थी वे अकस्मात ही दृष्टि गोचर हो गयीं। कुछ ही क्षणों में यह हुआ और उसी समय मैं समझ गयी कि मैं मृगजल के पीछे दौड़ी थी, व्यर्थ के सपनों में खो गयी थी। उस वक्त मेरे साथ कुछ ऐसा ही हुआ था। जैसे स्वयं के ही यथार्थ का दर्शन कोई बिलकुल स्पष्ट रूप में स्वयं को ही करा दे। मेरे सारे सपने उस समय विदा हो गये, मैं जाग गयी और स्वयं को ठीक ठीक देख पायी। यह आचार्यश्री के शब्दों की ही कीमिया थी।

दूसरा दिन मेरे लिए बड़ी ही प्रसन्नता ले आया। मन बिलकुल साफ-सुथरा हो चुका था। ऐसा महसूस हो रहा था कि जैसे जिन्दगी में आज पहली बार ही सूरज उगा हो, आज पहली बार ही उसकी सुनहली धूप को देखा हो। विचारों का शोरगुल अब खतम हो चुका था। क्षुद्रतम कल्पनाएं जल चुकी थीं। समस्त जीवन का एक अनोखा यथार्थ रूप निखरकर सामने आ गया था और मैंने तय कर लिया कि बस! अब मेरे गुरु मुझे मिल गये। अब वे जिस ओर इशारा करेंगे वही मार्ग मेरा मार्ग होगा।

उसी दिन मैंने राजुरकरजी को आचार्यश्रीके बारेमें पूछताछ करते हुए पत्र लिखा। वैसे तो 'साधना-पथ' के मुखपृष्ठ पर छपे आचार्यश्री के प्रवचनरत चित्र से ही मैंने उनकी रूपाकृति का अनुमान कर लिया था; लेकिन अब तो प्यास

थी उन्हें प्रत्यक्ष देखने की और उनसे बातचीत करने की। एक अनोखी चाह मुझे उनकी तरफ खींच कर ले जा रही थी। कुछ ऐसी चाह मैंने करीब करीब एक साल पहले भी महसूस की थी। उस समय पांडिचेरी की श्री माताजी की ओर मैं इसी प्रकार आकर्षित हुई थी। पांडिचेरी में एक साल से रहनेवाली एक युवती ने, जो श्री अरविंद और श्री माताजी को गुरु मानती थी, स्वयं ही पत्र लिखकर मुझसे मित्रता का नाता जोड़ा था। उसी ने मेरी छटपटाहट को ठीक तरह से समझकर अतीव प्रेम से मेरे लिए श्री अरविंद और श्री माताजी के फोटो भेजे थे। वह दिन था २२ जुलाई १९६४। उस दिन भी मैं हमेशा की तरह सुबह ऑफिस में बैठी काम कर रही थी कि मुझे डाक से आये वे फोटो मिले थे। मैंने पार्सल खोल कर देखा तो उनके फोटो सामने थे। माताजी की आंखों से आंखें मिलते ही मेरा हृदय भर आया; लगा कि इनसे मेरी बहुत पुरानी जान-पहचान है। और दिल धड़कने लगा। अकस्मात ही मन बेचैन हो उठा। और उसके बाद दिन-रात मंद-मंद बहते पवन में, थरथराते पत्तों में, मँडराते बादलों में जहाँ तहाँ मुझे माताजी का ही अस्तित्व महसूस होने लगा। उसके बाद श्री अरविंद और माताजी के साहित्य का मनन-चिंतन करते हुए एक साल बीत गया। उनके प्रति मैं समर्पित हो गयी थी। लेकिन आखिर मैंने पाया कि मेरी उदासी कुछ बढ़ती ही जा रही है। मन में विचार आने लगे कि अध्यात्म का मार्ग मुझ जैसे व्यक्ति के लिए नहीं है, मैं तो क्षुद्रतम् हूँ, मैं जिन्दगी भर कुछ नहीं कर पाऊंगी। थोड़ा-बहुत यकीन भी नहीं आ रहा था कि इस मार्ग से चलकर मैं कुछ पा भी सकूंगी।

इस प्रकार मैं स्वयं को क्षुद्रतम् समझने लगी थी। लेकिन आचार्यश्री के 'साधना-पथ' ने मुझे फिर से पूरी पूरी तसल्ली दे दी और पुनश्च एकबार मेरा रोम रोम प्रसन्नता से परिपूर्ण हो गया। पूना से राजुरकरजी का पत्र भी आ गया। जिसमें उन्होंने आचार्यश्री का पता लिख भेजा था। मैंने उसी वक्त आचार्यश्री को पत्र लिख भेजा जिसमें मेरे मन की छटपटाहट ही छटपटाहट थी। मैंने यह भी लिख दिया था कि मैंने उन्हें गुरु मान लिया है। पत्र भेजा भी नहीं था कि मैं पागल की तरह जवाब की राह देखने लगी। कभी सोचती, इतने महान् हैं वे! क्या मुझ जैसी को पत्र लिखेंगे कभी? विचार आता कि जिन्हें पल में ही मैंने गुरु मान लिया था, क्या वे मेरे मन को नहीं पहचानेंगे? मैं इस प्रकार सोचती रही। हुआ कुछ अलग ही कि मेरे अनुमान से पहले ही बहुत जल्द आचार्यश्री का पत्र मुझे मिला। वह दिन मेरे लिए बड़ा सौभाग्य का दिन था।

छोटे-छोटे, सुंदर हस्ताक्षरों म लिखा हुआ उनका वह पत्र मैंने कई-कई बार पढ़ा। आचार्यश्री का प्रेमपूर्ण आशीर्वाद मैंने पा लिया था। मेरी तड़प को वे ठीक तरह से पहचान गये थे। मुझे आगे क्या करना होगा इस बारे में कुछ गिने-चुने शब्दों में ही उन्होंने अतीव सुंदर ढंग से मुझे समझाया था और साथ में यह भी लिखा था कि वे जल्द ही आ रहे हैं और उन्होंने मुझे मिलने के लिए भी बुलाया था। मैं अपने आप पर भरोसा ही नहीं रख पा रही थी। मैं सोच भी नहीं पा रही थी कि क्या सचमुच इतनी जल्दी मैं उनसे मिलूंगी ?

आचार्यश्री से मेरी पहली ही मुलाकात थी। वहां काफी भीड़ थी। मैं चुपके से वहां जा बैठी। मेरी ओर आचार्यश्री का ध्यान नहीं था। वे श्रोताओं से बातचीत कर रहे थे। अपने विचार जोश के साथ प्रकट तो कर रहे थे, लेकिन फिर भी अत्यंत धीमी आवाज में बोल रहे थे। उनका प्रत्येक शब्द अभी अभी खिले हुए फूल की तरह प्रसन्न और नवीनतम प्रतीत हो रहा था। उस समय की उनके चेहरे की भाव-भंगिमाएँ और विशेष कर उँगलियों की हलन-चलन किसी पहुँचे हुए नर्तक से कम न थी। उनके आरक्त गौर चेहरे से और बड़ी आंखों से मानो तेज टपक रहा था। वे सफेद लुंगी पहने सिद्धासन में बैठे थे और लगातार बोले जा रहे थे। थोड़ी देर के बाद भीड़ कुछ कम हो गयी और उन्होंने मेरी तरफ देखा और संकेत से मुझे अपने पास बुला लिया। मैं कुछ हिचकिचाते हुए ही उनके सामने जा बैठी। अपना परिचय देते हुए कहने लगी, "मैं शिरीष....." "हां,हां, मैं समझ गया।" आचार्यश्री से मुझे बहुत कुछ कहना था, लेकिन सारे शब्द जैसे कहीं गायब हो गये थे। कुछ समझ में ही नहीं आ रहा था कि क्या कहूँ ? कैसे कहूँ ? फिर भी कह गयी,"मैं ठीक तरह से हिंदी नहीं बोल सकती।" आचार्यश्री कुछ मुस्कराते हुए बोले,"टूटी-फूटी भाषा तो और भी मीठी होती है।"

इस तरह की थोड़ी-बहुत बातचीत के बाद मैं वहां से उठी। लौटते वक्त दिल कुछ भारी हो गया था। उस समय, न जाने क्यों, मन में विचार आया कि आचार्यश्री से दोबारा मुलाकात कब होगी ? मैं फिर से उन्हें कब मिलूंगी ? क्यों कि मैं तो उनके साथ ठीक तरह से बोल भी न पायी थी । न जाने उन्होंने मेरे बारे में क्या सोचा होगा ? कुछ उदास होकर ही मैं लौट आयी। उसके बाद मुझे उनकी बहुत ही याद आती रही। बारबार मैं 'साधना-पथ' पढ़ती रही। और विशेष बात तो यह हुई कि मुलाकात के दो दिन बाद ही आचार्यश्री ने स्वयं ही मेरे नाम पत्र भेजा था जिसमें विशेष रूप से लिखा था कि मुझसे मिलकर उन्हें बड़ी खुशी हुई थी। उस पत्र के कारण मेरा हौसला अब और भी बढ़ गया।

उस पत्र ने आचार्यश्री के उदार अंतःकरण को पूरी तरह अभिव्यक्त किया था। मेरा मन उनके प्रति कृतज्ञता से भर आया। जी चाहा कि मेरे सिर पर रखा उनका कृपाभरा हाथ कभी न छोड़ूं, कसकर पकड़ लूं।

फिर क्या था, मैं तो 'साधना-पथ' के अनुसार 'साधना में रत हो गयी। पूरी शक्ति लगाकर साधना करने लगी। अगर कोई दिक्कत होती तो पत्र द्वारा आचार्यश्री से पूछ लेती। वे तुरन्त ही पत्र भेजकर मेरी उलझनों को सुलझा देते थे। इस प्रकार के सुलझाव मुझे आज तक कभी नहीं मिले थे।

मैं लगातार शरीर को शान्त करते हुए मन को शून्यावस्था में ले जाने का प्रयोग करती रही। अब मुझे साँस-साँस में एक संगीत का, एक लय का अनुभव होने लगा जो कि मेरे लिए बिलकुल नयी बात थी। ऐसी ही एक शाम थी। मैं बच्चों को लेकर किसी मेले में गयी थी। बच्चे इधर-उधर घूम रहे थे। शोर मचा रहे थे। मैं उनके साथ-साथ भी चली जा रही थी—लेकिन फिर भी उनके साथ होकर भी उनके साथ नहीं थी। अचरज की बात तो यह थी कि मेले की भीड़भाड़ और शोरगुल में मैं और ही अकेलापन महसूस करने लगी। घूमते हुए मैं एक चक्र के पास आकर खड़ी हो गयी। वह विशाल चक्र तेजी से घूम रहा था, और उसमें लगे पालने ऊपर जा रहे थे, नीचे आ रहे थे—वह चक्र बस घूमता ही जा रहा था। उसे देखकर मुझे आचार्यश्री के शब्दों का झट से स्मरण हो आया—"चक्र तो घूमता है लेकिन उसकी कील हमेशा स्थिर ही रहती है।" 'साधना-पथ' में प्रकट सारे विचार अकस्मात ही याद आ गये:

"आप निद्रा में होते हैं, लेकिन आपके भीतर 'वह' तो जाग्रत ही होता है, और जो आपको निद्रावस्था में देखता है। और फिर यकायक न जाने क्या हो गया—मेरे भीतर सब कुछ शून्य हो गया—सब शान्त हो गया। सारी चेतना केंद्र की ओर इकट्ठी हो गयी। एक अद्‌भुत साक्षीभाव का और संतुलन का अनुभव हुआ। ऐसी परम शांति का अनुभव पूरी जिन्दगी में पहले कभी नहीं हुआ था। लेकिन एक पल में ही मैंने वह स्थिति अनुभव की, करती रही। काफी समय बीत गया। लेकिन वह अवस्था वैसी ही बनी रही। चलते हुए, बातचीत करते हुए भी भीतर समाधि का सा अनुभव होता रहा। थोड़ी देर में चारों ओर अंधेरा छा गया और मेले में दियों की जगमगाहट हो गयी। बच्चे शोर मचाते रहे, खुश होते रहे। लेकिन मैं—मैं तो शून्य हो गयी थी। एक अर्थ से पूर्ण हो गयी थी। बच्चों को लेकर लौटी, गाड़ी में बैठी। लेकिन न जाने मुझे क्या हो गया था! समस्त जीवन जैसे क्षणिक खोखला प्रतीत हो रहा था। चारों ओर की चहल-पहल, सारी खुशी,

सारी हास्य ध्वनियां पानी के बुलबुले के समान झूठी व्यर्थ लगने लगीं। सिर्फ भीतर का निःशब्द शून्य ही वास्तविक लगने लगा था। परम आनंद के लिए, सच्चे आनंद के लिए किसी सहारे की जरूरत नहीं रह गयी थी। मैं घर लौटी। उस समाधि अवस्था की विशेषता यह थी कि मेरा वह अलौकिक आंतरिक विश्व और किसी को दिखायी पड़ना असंभव था। उस परम शांति से धीरे धीरे आनंद का प्रकाश निखरने लगा जैसे हौले-से कोई फूल खिल जाये और चारों ओर उसकी सुगंध फैलने लगे। कुछ इसी ढंग से भीतर के शून्य से शुद्ध आनंद मेरे भीतर फैलने लगा। एक खुलापन, एक निरीहता महसूस होने लगी। आनंद ही आनंद शेष रह गया था। सारे झगड़े, सारी अपेक्षाएँ, सारी इच्छाएँ सूखे पत्तों की भाँति दूर, बहुत दूर उड़ गयी थीं। दूसरे दिन भी वही स्थिति बनी रही। उसके बाद रोज का काम शुरू हुआ और धीरे धीरे वह अनुभव भी चला गया। बाद में कई दिनों तक वैसा अनुभव नहीं हुआ। मैंने बहुत कोशिश की, लेकिन वह अनुभव एक बार झलक दिखाके न जाने कहाँ खिसक गया था कि फिर से उसे न पा सकी। उसके बाद का जीवन पहले जैसा ही घिसटता हुआ बीतता गया। और मेरे पास थे वे ही प्रश्न, वे ही समस्याएँ, वे ही अधूरे जवाब, वे ही प्रतिक्रियाएँ और वे ही कभी खत्म न होने वाली पीड़ाएँ। केंद्र बिंदु को छोड़कर मैं फिर से उस चक्र के किसी पालने में आँखें मूँदकर बैठी थी। आचार्यश्री ने एक पत्र में मुझे समझाया था कि, "संसार का चक्र घूम रहा है, लेकिन उसके साथ तुम क्यों घूम रही हो?" मैं अपनी ओर से काफी कोशिश कर रही थी, लेकिन मेरी दुर्बलता, मेरा अधूरा निश्चय, मेरा खोखला संकल्प मुझे ठीक से कुछ भी करने नहीं देता था।

लेकिन मैंने एक बात तय कर रक्खी थी कि आचार्यश्री के चरण कभी नहीं छोड़ूंगी। निश्चय कर लिया था कि उन्हें बार बार पत्र लिखती रहूँगी, वे जब भी आयेंगे उनसे मिलती रहूँगी, उनके प्रवचन सुनती रहूँगी। कभी कभी तो ऐसा होता था कि मुलाकात का समय निश्चित करके भी, उत्कट इच्छा के होते हुए भी मैं उनसे मिल नहीं सकती थी। लेकिन उन्होंने इस बात का कभी बुरा नहीं माना। उनका प्रत्येक पत्र हमदर्दी से सराबोर होता था। मैं हरदम कमजोर ही साबित होती गयी और वे अखण्ड के अखण्ड ही बने रहे। मैं गलतियाँ करती रही, लेकिन वे हमेशा तसल्ली ही देते रहे।

मुझे याद है, एक बार मालाड में किसी अमराई में उनका प्रवचन था। सुबह का समय था। अमराई की हरी-हरी छाया में साधक बैठे थे जो सफेद पोशाक में थे। सूरज की सुनहरी किरणें शाखाओं से निकलकर श्रोताओं पर छा गयी थीं। लेकिन

उससे भी अनूठा एक प्रकाश श्रोताओं की तरफ बढ़ रहा था—आचार्यश्री की तेजस्वी आँखों का प्रकाश—मानों उनकी दो आँखों में जैसे दो सूरज ही दैदीप्यमान हो रहे थे—लेकिन उनमें से बरस रही थी. . . चंद्रमा की शीतल पूर्णिमा ।

'हिंसाचार', जो आज दुनिया में कुहराम मचाये हुए है, उसके बारे में आचार्यश्री अफसोस प्रकट कर रहे थे । श्रोताओं की हृदयस्थ प्रेमभावना को चुनौती दे रहे थे । सुनते सुनते अचानक ऊपर की टहनी से एक लाल रंग का मकोड़ा मुझ पर आ गिरा और चलने लगा । यूँ तो मैं मकोड़े से बहुत डरती हूँ, लेकिन उस वक्त आचार्यश्री ने दिल में एक ऐसी प्रेमज्योति निर्मित कर दी थी कि मैं उसे हटा न पायी । वह आराम से मेरे शरीर पर घूम रहा था । पल में ही मैं वास्तविकता को जान गयी कि मकोड़ा मेरा दुश्मन तो है नही, मैं उससे डरती हूँ अतः उससे नफरत करती हूँ और इसी कारण से उसपर खफ़ा हो जाती हूँ और फलस्वरूप वह मुझे काट लेता है । वह मकोड़ा कुछ देर के बाद जमीन पर चला गया, उसने मुझे कोई तकलीफ नहीं दी । अगर मैं गुस्से में आकर उसे हटा देती, तो वह मुझे काट ही लेता ।

उसके ठीक पहले ही दिन मैं मालाड में आचार्यश्री से मिली थी । और तभी से मेरे मन से भय न जाने कहाँ गायब हो गया था । उसी वक्त मैंने उनसे पूछा था, "आप तो कहते हैं कि मूर्ति-पूजा समुचित नहीं है, फिर यह कैसे हुआ कि मीराबाई, तुकाराम आदि को मूर्तिपूजा द्वारा ही परमात्मा की प्राप्ति हुई?" आचार्यश्री पलभर के लिए मुस्कुरा दिये और फिर बोले, "शिरीष, किसी भी मार्ग से आनंद प्राप्त करने में कोई पाप तो है नहीं ।"

एक बार आचार्यश्री वालकेश्वर में ठहरे थे । मैं सुबह-सुबह उनसे मिलने गयी थी । रात को आचार्यश्री कहीं और ठहरे थे, और उस वक्त वहीं से लौट रहे थे शायद । अतः उनकी गाड़ी मेरी गाड़ी के आगे ही थी । उनकी गाड़ी रुकी तो पीछे ही मेरी भी गाड़ी रुक गयी । मैं दौड़कर उनके सामने जा खड़ी हुई । वे स्नान करके सीधे ही आ रहे थे, अतः उनके आसपास चंदनी साबुन की खुशबू भीनी-भीनी खुशबू फैल गयी थी— लेकिन इस खुशबू से भी पवित्र और सुखद थी उनकी मुग्ध-मधुर मुस्कान की खुशबू !

उन दिनों में ही उनका एक साधना शिविर हुआ था, जिसमें वादा करके भी मैं नहीं जा सकी थी । इसीलिए मैंने उनसे क्षमा मांगी । अचानक ही मुझे किसी शादी में जाना पड़ा था । आचार्यश्री ने छोटे बच्चे की तरह रूठे हुए स्वर में शिकायत की, "देखो ! हम बुलाते हैं तब आती भी नहीं और दूसरी जगह चली जाती है ।"

आचार्यश्री कितनी बार मुझे अपने साथ प्रवास में आने के लिए कह चुके थे

लेकिन मैं कभी जा न सकी थी। लेकिन मेरी ऐसी गलतियों के कारण ही क्यों न सही आचार्यश्री की मीठी रूठन तो देखने को मिली थी। आचार्यश्री मुझ पर रूठे यह बात मुझे बेहद अच्छी लगी। महान संत होते हुए भी सामान्य व्यक्ति के साथ सामान्य व्यक्ति सा बर्ताव वे करते हैं, इसी बात का यह प्रमाण था। जनसाधारण को अपनी सादगी– सरलता से लुभाने की उनकी इस अद्‌भुत कला को मैं उनकी रूठन से जान गयी थी।

उस सुबह की वह मुलाकात मेरे लिए अविस्मरणीय साबित हुई। बिलकुल थोड़े समय के लिए मैं उनके साथ थी, लेकिन उन गिने-चुने क्षणों में ही मैं, उनकी मेरे प्रति जो निरपेक्ष ममता थी, उसे भलीभाँति जान गयी। और उस चंदनी सुगंध की तरह अनेक मीठी यादें लेकर लौटी। लौटने को तो मन ही नहीं कर रहा था। जी चाहा कि उनके पैर कसकर पकड़ लूं ताकि वे कहीं और जा न सकें और मैं हमेशा के लिए उनकी सेवा कर सकूं। लेकिन यह मुमकिन तो था नहीं। हमेशा की तरह कार्यक्रम समाप्त होते ही वे चले गये और उनसे बिछुड़कर मैं बहुत उदास हो गयी। उसके फौरन बाद ही मैंने अत्यन्त उत्कटता से भरा एक पत्र उन्हें लिख दिया। मेरे उस उत्कटतापूर्ण पत्र का आया आचार्यश्री का प्रेमपूर्ण उत्तर। वह यादें ही यादें दे जाने वाला दिन––ये सारी बातें––लगता है ये सारी बातें अभी अभी घट रही हैं।

एक बार किसी कॉलेज में आचार्यश्री का प्रवचन था। मैं भी वहाँ उपस्थित थी। प्रवचन के बाद मैं उनसे मिलने गयी, तो उन्होंने कहा, "चलो ! मेरे साथ। मैं अभी जा रहा हूँ। मुझे स्टेशन पर छोड़ने चलो।" मैं ना कैसे कह सकती थी? मैं उनके साथ गाड़ी में बैठ गयी। किसी ने आकर आचार्यश्री को एक फूल भेंट किया, उन्होंने वह फूल मुझे दे दिया। और कोई उन्हें एक सुंदर माला पहना गया, वह भी उन्होंने मुझे दे दी। मुझे लगा कि उनका विशाल हृदय फूल द्वारा, माला द्वारा मुझसे कह रहा था, "ले लो, तुम जो चाहो ले लो ! सारी चीजें ले लो !" मैं ही कुछ हिचकिचा गयी थी। खयाल आया कि आचार्यश्री मुझ पर इतनी कृपा बरसा रहे हैं, क्या मैं उस लायक भी हूँ ? सचमुच कितना बड़ा दिल पाया है उन्होंने ! स्टेशन पर पहुँचते ही उनको लोगों ने घेर लिया। मैं चुपचाप पीछे हट गयी। सोचा कि और सभी को भी तो उनकी जरूरत है, हर किसी को भी तो उनसे मिलने की इच्छा है। मैं हमेशा उनके पास किसी न किसी प्रकार का हठ करती रही और आचार्यश्री भी मेरे हठ पूरे करते रहे। कितनी बार मैंने उनसे व्यर्थ के सवाल पूछे, उनका समय बरबाद किया। लेकिन वे अत्यन्त शांति से मेरे सारे प्रश्नों के जवाब देते थे। उनके जवाबों से मुझे तसल्ली मिल जाती थी। एक बार मैंने हमारे 'सुभाषगृह' में

उनका प्रवचन आयोजित किया था। विषय था 'आत्मबोध'। प्रवचन बड़ा ही अनूठा रहा। वैसे देखा जाय तो उस दिन उनकी तबियत ठीक नहीं थी, फिर भी वे आये थे। उन दिनों उनका एक गांव से दूसरे गांव आना-जाना जारी था ही।

मेरे बच्चों के 'उपनयन संस्कार' के समय भी याद करके उन्होंने आशीष के साथ एक महान् संदेश भी भेजा था। मेरे पिताजी के स्वर्गवास के बाद भी ममता से परिपूर्ण मुझे दिलासा देनेवाला एक पत्र उन्होंने मुझे लिखा था। उसके बाद जब मैं उन्हें मिलने गयी तो मेरे व्यथित हृदय को उन्होंने माँ की ममता से सहलाया था। उनसे पहचान हुए अब छः साल हो चुके हैं। इन छः वर्षों में आचार्यश्री का कार्य काफी विस्तृत रूप धारण कर चुका है। उनका कार्य रोज बढ़ता ही जा रहा है। उन्होंने जनजागरण का जो व्रत लिया है, उसीको पूरा करने में वे रात दिन जुटे हैं। अपना सारा जीवन ही उन्होंने जनता की सेवा के लिए समर्पित कर दिया है। दिन-ब-दिन उनके चाहने वालों के साथ साथ उनके विरोधियों की और निंदकों की संख्या भी कुछ बढ़ रही है। अभी कुछ दिनों पूर्व ही एक मराठी दैनिक ने उनकी बड़ी ही कटु आलोचना की थी, जिसे पढ़कर मुझे धक्का-सा लगा था। मन में कई तूफान उठ खड़े हुए थे। लेकिन इसका नतीजा बस यही हुआ कि आचार्यश्री के प्रति मेरी श्रद्धा, इस जली-कटी आलोचना के कारण कुछ और ही निखर आयी।

आचार्यश्री हर पल आगे ही बढ़ रहे हैं। मैं जब देखती हूँ कि वे कहाँ पहुँच गये हैं तो शर्मिन्दा हो जाती हूँ। जब मैं अपने मन से पूछती हूँ कि 'आचार्यश्री ने आत्मविकास का कितना तेजस्वी मार्ग तुझे दिखा दिया है, लेकिन तू उस मार्ग पर कहाँ तक अग्रसर हो सकी है, तूने कितने कदम उठाये उस तरफ़, तूने कितने प्रयास अधूरे ही छोड़ दिये ?' तो मुझे अपने आप पर तरस आता है।

गत छः वर्षों में कई बार ऐसा हुआ कि सब कुछ पाकर भी मैं कंगाल ही बनी रही। बारबार निराशा ने मुझे घेर लिया। लेकिन हर समय मैं आचार्यश्री के सहारे ही ठीक मार्ग पर आ सकी थी। उनके कहने के अनुसार मैंने उनके दो प्रवचनों का और एक पत्र-संग्रह का अनुवाद किया। यह अनुवाद करने की क्रिया भी अप्रत्यक्ष रूप से एक साधना ही थी। जब भी अनुवाद करती, मैं एक अतीव उच्च आत्मिक अवस्था का अनुभव करती थी।

कुछ ही दिनों की बात है। मैं जुलाई में उरुली कांचन के निसर्गोपचार केंद्र में कुछ दिनों के लिए गयी थी। साथ में आचार्यश्री की 'अंतर्यात्रा' नामक किताब थी। एक ओर 'सूर्य की ओर उड़ान' का अनुवाद पूरा कर रही थी, फिर जो समय रह जाता उसमें आचार्यश्री के और श्री माताजी के विचार पढ़ती। 'अंतर्यात्रा' पढ़ते हुए

और 'सूर्य की ओर उड़ान' का अनुवाद करते हुए जीवन का बिलकुल नया और अद्‌भुत दर्शन हुआ। एक दिन सुबह जाग गयी और अनजाने में ही ध्यान में बैठ गयी। नाभि की ओर ध्यान रखते हुए सांस लेने लगी। आचार्यश्री के शब्द स्मरण आते रहे कि 'श्वास ही शरीर और आत्मा को जोड़नेवाला सेतु है।' अकस्मात् न जाने क्या हुआ, सांस की लय ही बची रही। शरीर का अस्तित्व जैसे था ही नहीं। मेरा कोई शरीर था ही नहीं, रह गयी थी सिर्फ सांस और सांस ही। और रह गया था नाभि केंद्र के निकट होनेवाला सतत जागृत स्पंदन–जैसे कोई फूल खिल रहा था, बंद हो रहा था–– खिल रहा था, बंद हो रहा था! मेरे प्राणरूपी झूले को जैसे कोई हिला रहा था– झूला आगे जा रहा था पीछे आ रहा था। उस परमात्मा के प्रेमपूर्ण हाथ मेरी सांस की डोर से मेरे प्राणों को झुला रहे थे–हिला रहे थे। मेरा शरीर उस परमात्मा की हवा भीतर ले रहा था और उसे लौटा रहा था। उसी की चीज़ लेकर उसी को लौटाने की बात थी। फिर यह कैसे हुआ कि हर बार लौटायी हुई हवा अशुद्ध रूप में थी। क्या यह मुमकिन नहीं था कि उस हवा को उसी शुद्ध रूप में लौटाया जा सके? इस सारे शरीर को सुंदर रूप में ही उसके चरणों में समर्पित करना कहां तक संभव था?–ऐसे कई विचारों से मन पूरा व्यथित हो गया। उस दिन जब मैं कमरे से बाहर आयी तो दिल में बस प्रेम ही प्रेम था। मेरे लिए न तो कोई दुश्मन रह गया था न कोई पराया–सभी मेरे अपने ही बन चुके थे। मैं उस आनंद में पागल की तरह बहती ही गयी। यहाँ से वहाँ घूमती ही चली गयी– वहाँ के हरेभरे खेत, नीले नीले पहाड़, धुंधला आकाश, आकाश में छाये बड़े बड़े श्यामल मेघ––सभी में मैं स्वयं को ही देखने लगी–– उन क्षणों में मेरे लिए तो बस जीना और जीना ही था। उसके बाद जब कमरे में लौट आयी तो फिर से ध्यान में बैठ गयी। लेकिन अब वह 'मूड' नहीं रह गया था। उस समय आचार्यश्री की बहुत याद आयी। सुना कि वे वहाँ भी आये थे, लेकिन उस वक्त उनसे मिलना तो संभव था नहीं। लेकिन मुझे पूरा विश्वास था कि उस क्षण मेरे मन में उनसे मिलने का जो उत्कट भाव था वह जरूर आचार्यश्री तक पहुँच जायगा। लेकिन उसके बाद काफी दिनों तक उनसे मुलाकात नहीं हो पायी।

हाल ही में आचार्यश्री बंबई में स्थायी रूप से रहने के लिए आ गये हैं। समय मिलते ही मैं उनसे मिलने गयी। अभी कुछ ही दिनों पहले उनके नये निवासस्थान पर उनकी वर्षगांठ का समारोह हुआ था। उसके बाद मैं जब उनसे मिलने गयी तो मैंने उनसे मेरे कुछ अनुभवों के बारे में पूछा और जानना चाहा कि उनकी पुनरावृत्ति क्यों नहीं होती! आचार्यश्री मुझे समझाते हुए कहने लगे, 'शिरीष, जानबूझकर कोशिश

करने से ऐसे अनुभवों की प्राप्ति नहीं होती ।' उन्होंने एक ध्यान-यज्ञ का आयोजन किया था, जिसमें शामिल होने की इच्छा मैंने प्रकट की तो वे तुरंत ही बोले, "तू जरूर आना । तुझे कुछ मिलेगा ही।"

आचार्यश्री के ध्यान-यज्ञ में मुझे अलग ही ढंग के अनुभव हुए । हर वक्त मैंने शरीर से भिन्न किसी अस्तित्व का अनुभव किया । उस समय शरीर का अस्तित्व तो महसूस होता ही नहीं था । मैंने देखा कि कई लोग उनके सामने फूट-फूट कर रो रहे थे । रात्रि के ध्यान में तो बस उनके एक ही इशारे से कई लोगों की व्यथा जैसे बाहर फूट पड़ती थी । उस ध्यान के वक्त चारों ओर इतने शोरगुल के होते हुए भी, मैं आचार्यश्री की ओर लगातार चालीस मिनट तक देखने के उनके आदेश का पालन कर सकी थी । मुझे सिर्फ आचार्यश्री ही नजर आ रहे थे । मेरे आसपास मानो कई साये ही नाच रहे थे, लेकिन प्रकाश का केंद्र आचार्यश्री के रूप में हमारे मध्य स्थिर था । उस वक्त उनकी तरफ देखते हुए ही मैं उनके करुणामय व्यक्तित्व से परिचित हो गयी । उनका ऐसा भव्य रूप, दिव्य रूप मैंने पहले कभी नहीं देखा था । मैंने देखा कि उनके हृदय से करुणा का एक शीतल झरना दुखीजनों की ओर बह रहा था। जितने मृदु, उतने ही सामर्थ्य युक्त,और जितने विनम्र उतने ही अधिकारी–ऐसे आचार्यश्री को उस वक्त पहली बार देखा, और गुरुदेव को मैं पा सकी इसलिए स्वयं को गौरवान्वित समझने लगी । उस रात आचार्यश्री ने जो मधुर उपदेश दिया था वह मन में जमकर बैठ गया था । उनका प्रत्येक शब्द प्राणों में गहरे उतर गया था । उनका यह ध्यान-यज्ञ जीवन का एक अपूर्व, महान् अनुभव था ।

इस अनुभव के कारण अपनी अपूर्णता का बोध अत्यन्त तीव्रता से महसूस होने लगा है । यह मार्ग कितना लम्बा है और कितना चलना होगा इस बारे में तो पूरी तरह से जानती नहीं हूँ, लेकिन सफलता के लिए आचार्यश्री की ही अमृतवाणी का हमेशा लाभ उठाना होगा । उन्हीं के प्रकाश में मार्ग पर आगे बढ़ना होगा ।

आचार्यश्री, आप हमेशा हमारे सम्मुख हैं, इसी कारण से मैं और मेरे जैसे कई लोग एक महान् साहस के लिए प्रवृत्त हो रहे हैं । अगर हार गये तो असफलता हमारी होगी–– अगर जीत जायें तो सारा यश आपका ही होगा !

★

प्रेरणा

जो जानते हैं उनके पास जायं, लेकिन जो वे जानते हैं उसे मान मत लें। उसे खोजें, जो वे जानते हैं, उसे विश्वास न बना लें। उसे जिज्ञासा बनायें। जो वे जानते हैं उसके प्रति अन्धे होकर मुट्ठी न बांध लें, उसके प्रति आंख खोलें, टटोलें। प्रेरणा का अर्थ दूसरे को स्वीकार कर लेना नहीं है। प्रेरणा का अर्थ, दूसरे की चुनौती स्वीकार करना, चैलेंज स्वीकार करना है। महावीर के पास जायं तो प्रेरणा का अर्थ यह नहीं है कि महावीर जैसे होने में लग जायं। प्रेरणा का यह अर्थ है कि अगर इस महावीर के भीतर यह प्रकाश पैदा हो सका तो मेरे भीतर क्यों पैदा नहीं हो सकता? यह चुनौती है! अंग्रेजी में शब्द है इन्स्पिरेशन। वह शब्द बहुत कीमती है। उसमें 'इन' शब्द पर ध्यान देना जरूरी है। लेकिन इन्स्पिरेशन लेते हम सदा दूसरे से हैं। तब तो शब्द बड़ा गलत है। इंस्पिरेशन का मतलब ही है अंतःप्रेरणा। दूसरा निमित्त बन सकता है। दूसरा आधार नहीं बन सकता। दूसरा चुनौती हो सकता है, नियम नहीं बन सकता। एक जला हुआ दिया एक बिन जले दिये के लिए खबर बन सकता है कि मैं भी जल सकता हूं। क्योंकि बाती मेरे पास है, तेल मेरे पास है, दिया भी मेरे पास है। लेकिन जला हुआ दिया अगर बिन जले दिये के लिए इस तरह की प्रेरणा न बनकर सिर्फ पूजा की प्रेरणा और अनुकरण बन जाए, और वह अन जला दिया, जले हुए दिये के चरणों में सिर

रखकर बैठा रहे अनन्त काल तक, तो उससे कुछ होने वाला नहीं है। प्रेरणा का अर्थ है चुनौती। जहां भी कुछ दिखाई पड़ता हो उससे यह चुनौती मिलनी ही चाहिए कि यह मेरे भीतर क्यों नहीं हो सकता है? इस जगत में जो एक व्यक्ति के भीतर भी हुआ है वह मेरे भीतर क्यों नहीं हो सकता है? सब उपकरण मौजूद हैं। वह हृदय मौजूद है, जो मीरा का गीत बन जाय! वह बुद्धि मौजूद है जो बुद्ध की प्रज्ञा बन जाय। वह शरीर मौजूद है जिस शरीर के भीतर के लोगों ने परमात्मा को पा लिया है। वह आंख मौजूद है जिससे दृश्य ही नहीं अदृश्य भी दिखाई पड़े। वह कान मौजूद है जिनसे बाहर के संगीत ही नहीं, भीतर के नाद भी कबीर ने सुन लिये। लेकिन अगर कबीर भीतर के नाद सुन सकते हैं तो मैं भीतर के नाद क्यों नहीं सुन सकता हूं? प्रेरणा का अर्थ है, जायं सब तरफ, खोजें सब तरफ। जिन्होंने भी ऊंचाइयाँ छुई हों उनको देखें। जिन्होने गहराइयाँ पाई हों उनको देखें, और अपने पैरों के नीचे देखें कि आप कहां खड़े हैं? इन ऊँचाइयों और इन गहराइयों में आपका जाना भी हो सकता है, बस इससे ज्यादा प्रेरणा का और कोई अर्थ नहीं है। अगर इससे ज्यादा आप अर्थ लेते हैं तो प्रेरणा नहीं रह जाती, फिर वह अनुगमन बन जाती है, फिर वह अनुसरण हो जाती है, फिर वह फालोंइंग हो जाती है, फिर अन्धे ही बनते हैं आप। आंख वाले नहीं बन पाते। अंधे बनने से बचने की जरूरत है। अंधा आदमी परमात्मा को नहीं खोज पाएगा। अंधा आदमी टटोलता रहेगा किसी के पीछे, और भटकता रहेगा किसी के पीछे। भटक के सत्य कैसे मिल सकता है? सत्य भीतर है। चोट पड़ने दें—महावीर की, बुद्ध की, कृष्ण की, क्राइस्ट की, जिसकी भी चोट पड़ती हो पड़ने दें। जिनसे चुनौती मिलती हो ले लें और चुनौती के लिए धन्यवाद भी दे दें। लेकिन सीखें, वह नहीं जो देखा है। सीखें वह, जो मेरे भीतर हो सकता है। इसके फर्क को समझ लें। सीखें मत दूसरे से, जो उसके भीतर हो गया है। सीखें केवल इतना ही कि उसके भीतर जो हो सका वह मेरी भी पोटेंशियलिटी हो। वह मेरा भी बीज है। वह मेरे भीतर भी हो सकता है। एक बीज को रखें, एक वृक्ष के पास। बीज को पता भी तो नहीं चल सकता कि इतना बड़ा वृक्ष मेरे भीतर भी छिपा हो सकता है। लेकिन बीज अगर एक वृक्ष को देख ले और उस वृक्ष से पूछ ले कि तुम इतने बड़े वृक्ष हो गये, क्या तुम इतने ही बड़े थे सदा? तो वह वृक्ष कहेगा, बीज था तेरे ही जैसा कभी, और ऐसा ही। मैंने भी वृक्षों से पूछा था कि इतने बड़े कैसे हो गये हो? तेरे जितना ही छोटा बीज था। लेकिन यह सब भीतर छिपा था। अब प्रगट हो गया है। यह मैनिफैस्ट हो गया है।

असल में तब बीज के लिए चुनौती मिल गयी। अब यह बीज भी टूटेगा।

लेकिन यह बीज वैसा ही वृक्ष नहीं बन सकता है । वह बीज जो बन सकता है वही बनेगा । इस बीज के भीतर हो सकता है दूसरा वृक्ष छिपा हो । वह दूसरा वृक्ष ही यह बनेगा । इतना स्मरण रहे तो प्रेरणा घातक नहीं होती, साधक हो जाती है । तो प्रेरणा शत्रु नहीं बनती, मित्र बन जाती है । तो प्रेरणा बाहर से आती हुई सिर्फ दिखाई पड़ती है, आती भीतर से ही है । वह इंस्पिरेशन ही होता है । वह अंतःचोट होती है । बाहर से किसी की चोट और भीतर कोई सोया हुआ फन उठाकर जग जाता है ! और हमें पहली बार पता चलता है कि हम यह भी हो सकते हैं । इस स्मरण का नाम प्रेरणा है । इस अर्थ में सीखना पड़ेगा, इस अर्थ में सीखते ही रहना है । लेकिन सीखना और मानना बड़ी अलग-अलग बातें है । मानता वही है जो सीखना नही चाहता । जो सीखना चाहता है वह तो मानेगा नहीं, वह तो खोजेगा, खोजेगा । और तबतक नहीं मानेगा जबतक पा नहीं लेगा । वह अगर किसी बात की खोज पर भी निकलेगा तो उसकी खोज मानने की खोज नहीं, जानने की खोज होगी ।

सीखने का अर्थ श्रद्धा नहीं है, सीखने का अर्थ विश्वास नहीं है, सीखने का अर्थ खोज है । सीखने का अर्थ जिज्ञासा है । सीखना एक यात्रा है । सीखना प्रारम्भ है, अन्त नहीं है । लेकिन हम सब लोग सीख के बैठ जाते हैं । हम कहते हैं, हमने तो गीता से सीख लिया । गीता के सीखने से क्या होता है? गीता सीख सकते हैं आप, लेकिन गीता सीखने से कृष्ण नहीं हो सकते। गीता पूरी की पूरी कंठस्थ करने से भी कुछ न होगा । एक बात पक्की है कि कृष्ण को गीता कंठस्थ नहीं थी और अगर दोबारा बुलवायी होती तो बड़ी भूलचूक होती । गीता निकली है, वह यादाश्त नहीं है । उसका एक स्रोत है, जो कृष्ण से बाहर फूटा है । और आप ? आप उसको बाहर से भीतर डाल रहे हैं । नहीं, कृष्ण की गीता को पढ़कर इस आकांक्षा से भरें कि कब वह दिन आयेगा जब मेरे प्राणों से भी गीता फूटकर निकलने लगेगी । जिस दिन मेरे प्राण भी भगवद्गीता बन जायेंगे, भगवान का गीत बन जायेंगे वह कब होगा दिन ? उसकी याद से भरें । छोड़ दें कृष्ण को, छोड़ दें उनकी गीता को । अपनी गीता की खोज में लगें । एक बात पक्की हो गयी कि गीता कृष्ण से फूट सकती है तो मुझसे क्यों नहीं फूट सकती ? परमात्मा बपौती नहीं है किसी की । अगर कृष्ण को मिल सकी है भगवद्गीता तो मुझे भी मिल सकती है । अगर उनके प्राणों के वाद्य पर यह गीत उठा होगा तो मेरे प्राणों के वाद्य पर भी पैदा हो सकता है । लेकिन हम ? हम कुछ और कर रहे हैं । हम सीखने का मतलब गीता कंठस्थ कर रहे हैं । गीता सीखने का मतलब इतना ही है कि मिल गयी चुनौती अब । तबतक चैन नहीं जबतक कि भगवद्गीता मेरे भीतर से पैदा न होने लगे । जबतक कि वाणी का स्वर-स्वर परमात्मा का स्वर न हो जाय । तबतक तक चैन नहीं ।

यह सीखें। लेकिन यह कौन सीखता है ? गीता सीख लेते हैं, वह आसान है। गीता को कंठस्थ कर लेना बच्चों का काम है और जितनी कम बुद्धि का आदमी हो उतनी जल्दी कंठस्थ हो जाती है।

सीखें कि, सम्यक सीखना, राइट लर्निंग क्या है ? कुछ और भी सीखना है। वह जो हैपिनिंग है, वह जो घटना घटी है, वह सीखना है। यह जो कृष्ण नाम की घटना घट गयी है, यह सीखना है। जो कृष्ण के मुंह से निकला है, यह नहीं सीखना है। यह जो कृष्ण पहने हुए हैं, यह नहीं सीखना है। नहीं, कृष्ण के भीतर जो बीज फूटा और अंकुरित होकर वृक्ष बन गया है तो मेरा बीज भी फूट सकता है। यह सीखना है। इस बीज को तोड़ने की आकांक्षा सीखनी है। अभीप्सा सीखनी है। इस बीज को तोड़ने का पागलपन सीखना है। इस बीज को तोड़ने की जिद सीखनी है। इस बीज को तोड़ने का संकल्प सीखना है। वह कृष्ण से सीख लें, वह क्राइस्ट से भी सीखा जा सकता है। वह बुद्ध से भी सीखा जा सकता है। वह अपने चारों तरफ हजार-हजार मार्गों से सीखा जा सकता है। और जो सीखने को उत्सुक है उसे तो वृक्ष पर खिलते हुए फूल से भी याद आती है उसी की। आकाश में चमके हुए तारे से ख्याल आता है उसी का। जमीन से फूटे हुए झरने में भी स्मृति आती है उसी की। सबसे उसी की याद !

सुना है मैंने, एक सूफी फकीर एक गांव से गुजर रहा है। सांझ है और एक बच्चा मंदिर में दिया चढ़ाने जा रहा है। उसने उसे रोका है और पूछा है, इस दिये में ज्योति कहां से आयी ? तू ने ही जलाया है दिया ? तो उस बच्चे ने कहा, जलाया तो मैंने है, लेकिन ज्योति कहां से आयी ये पता नहीं। और तभी बच्चे ने दिया फूंक कर बुझा दिया और कहा कि आपके सामने ज्योति चली गयी। अब आप मुझे बता दें कहां चली गयी ज्योति ? आपके सामने ही गयी है न ? तब मैं भी बता सकूंगा कि कहां से आयी थी। वह फकीर उस बच्चे के पैर पर गिर पड़ा है और उसने कहा है कि आज से गलत सवाल न पूछूंगा। क्योंकि जिसका जवाब मैं नहीं दे सकता उसका सवाल क्यों पूछना ! तू मुझे माफ कर दे, तू मुझे क्षमा कर दे। मुझे भी तो पता नहीं है कि ज्योति कहां चली जाती है ? छोड़ें दिये को, उस फकीर ने कहा, तूने अच्छी याद दिला दी। मुझे यह भी तो पता नहीं है कि मेरे दिये में जो ज्योति जल रही है वह कहां से आती है ? और मेरे दिये में जब बुझ जायगी तब वह कहां चली जायेगी ? पहले अपने दिये का पता लगा लूं फिर इस मिट्टी के दिये की खोज करूं। अब यह जो आदमी है, इसने सीखा है कुछ। 'ही हैज लर्न्ट समथिंग'। उसने इस घटना से कुछ सीखा।

एक ज़ेन फकीर के आश्रम में एक बूढ़ी औरत बहुत दिन से रुकी है और वह कहती है कि घटना नहीं घट रही है। और सिखाओ, कुछ और सिखाओ। वह बड़े सिद्धांत सीख गयी, शास्त्र सीख गयी, लेकिन घटना नहीं घट रही है। वह कहती है, और सिखाओ। अब वह फकीर कहता है, तू सीखती ही नहीं। सब तरफ वही सिखाया जा रहा है। फिर एक दिन वह वृक्ष के नीचे बैठी है और एक सूखा पत्ता वृक्ष से नीचे गिर गया है। बस वह नाचती हुई आश्रम में चिल्लाने लगी है कि मैं सीख गयी। लोगों ने कहा, किस शास्त्र से सीखी है ? हमको भी बता दो, और भी सीखने वाले लोग मौजूद हैं। उसने कहा, शास्त्र से नहीं सीखी हूँ, एक सूखे पत्ते को वृक्ष से गिरते देखकर, बस सब हो गया। पर उन्होंने कहा, पागल ! वृक्षों से सूखे पत्ते तो हमने भी बहुत गिरते देखे हैं, तुझे क्या हो गया ? उसने कहा, जैसे ही वृक्ष से सूखा पत्ता गिरा, मेरे भीतर भी कुछ गिर गया है। और मुझे लगा कि आज नहीं कल सूखे पत्ते की तरह गिर जाऊंगी। तो जब सूखे पत्ते की तरह गिर ही जाना है तो इतनी अकड़ क्यों, इतना अहंकार क्यों ? सूखा पत्ता हवा में यहां-वहां डोलने लगा, पूरब-पश्चिम होने लगा। हवा उसे ठोकर देने लगी। वह सड़कों पर भटकने लगा। आज नहीं कल, जिसे मैं, मैं कहती हूं वह भी कल राख हो जाएगा और सड़कों पर हवाएं उसे धक्के देंगी। वह सूखे पत्ते की तरह भटकेगा। आज से अब मैं नहीं हूं। मैंने सूखे पत्ते से सीख लिया है। सीखने का मतलब ? सीखने का मतलब खुली आंख रखें और चुनौतियां लें। आने दें चुनौतियां। सब तरफ से आती हैं। बाप को बेटे से आ सकती है। बेटे को बाप से आ सकती है। राह चलते अजनबी से मिल सकती है। पड़ोसी से मिल सकती है। किसी से भी मिल सकती है। सीखने वाला चित्त चाहिए। लेकिन हम इस सीखने के अर्थ को नहीं समझे। हम समझ रहे हैं कि बस कंठस्थ कर लो। हमारा सीखना बौद्धिक है। इंटेलेक्चुअल है। शब्द सीख लो, सिद्धांत सीख लो, कंठस्थ कर लो। सीखना होता है टोटल,—रोएं-रोएं से। श्वास-श्वास से। प्राण के कण-कण से। हृदय की धड़कन-धड़कन से। पूरा व्यक्तित्व जब सीखने को तैयार होता है तो जरा सी चुनौती झंकार बन जाती है और प्राण सोये हुए जाग जाते हैं। लेकिन इसकी प्रतीक्षा करनी पड़ती है। और जो लोग इस तरह से व्यर्थ के सीखने में लगे रहते हैं उनके पास तो समय भी नहीं बचता। सुविधा भी नहीं बचती। मन में जगह भी नहीं बचती। सब भर जाता है। अगर किसी दिन परमात्मा के सामने खड़े होंगे और उससे कहेंगे कि मैं आपको क्यों न सीख पाया, तो वह यह नहीं कहेगा कि आपने कुछ कम सीखा इसलिए नहीं सीख पाये। वह कहेगा कि तुमने इतना सीखा कि मुझे सीखने के लिए जगह कहां बची ? सीखा बहुत – सीखते हम सब बहुत हैं,

लेकिन सीखने योग्य ही छूट जाता है। चुनौती नहीं सीख पाते।

धर्म एक चुनौती है। और चुनौती सीख जांयं तो कहीं से भी वह चुनौती मिल सकती है। उसके कोई बंधे-बंधाये रास्ते नहीं हैं। उसके कोई बंधे-बंधाये साथ नहीं हैं। जीवन कहीं से भी टूट पड़ सकता है। जीवन कहीं से भी आपको पकड़ ले सकता है। खुले रखें द्वार मन के। राह चलते, सोते, उठते, बैठते, सीखते रहें। लेते रहें चुनौती। किसी दिन चोट गहरी पड़ जायगी और वीणा झंकृत हो जाएगी।

★

आचार्यश्री रजनीश की सृजनात्मक जीवन-दृष्टि

का

मासिक पत्र

युक्रांद

मानसेवी सम्पादक:

अरविन्द कुमार

एक प्रति: १ रुपया * वार्षिक शुल्क: १२ रुपये

देश के कोने-कोने में विक्रय एजेन्ट नियुक्त करना है

सम्पर्क करने तथा शुल्क भेजने का पता:

अरविन्द कुमार, सदस्य युक्रांद प्रकाशन समिति,

कमला नेहरू नगर, जबलपुर (म. प्र.) फोन: २९५७

जीवन का गूढ़ गणित

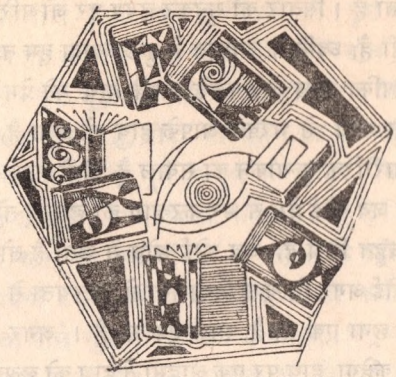

दुनिया में दो तरह के गणित हैं– एक गणित है, जो कहता है, दो और दो चार होते हैं। यह साधारण गणित है। हम सब जानते हैं। साधारण गणित कहता है कि अगर हम किसी चीज के अंशों को जोड़ें तो वह उसके पूर्ण से ज्यादा कभी नहीं हो सकते। साधारण गणित कहता है कि अगर हम किसी चीज को तोड़ लें, और उसके टुकड़ों को जोड़ें तो टुकड़ों का जोड़ कभी भी पूरे से ज्यादा नहीं हो सकता है। यह सीधी बात है। अगर हम एक रुपये को तोड़ लें सौ पैसों में तो सौ पैसों का जोड़ रुपये से ज्यादा कभी नहीं हो सकता। अंश का जोड़ कभी भी अंशी से ज्यादा नहीं हो सकता, यह सीधा सा गणित है। लेकिन आस्पेंन्स्की कहता है कि एक और गणित है, हायर मैथमेटिक्स। एक और ऊंचा गणित भी है और वही जीवन का गहरा गणित है। वहां दो दो चार, जरूरी नहीं है कि चार ही होते हों। कभी वहां दो और दो पांच भी हो जाते हैं। और कभी वहां दो और दो तीन भी रह जाते हैं। वह कहता है कि कभी अंशों का जोड़ पूर्ण से ज्यादा भी हो जाता है। इसे थोड़ा समझना पड़ेगा।

एक चित्रकार एक चित्र बनाता है। अगर हम हिसाब लगाने बैठें तो रंगों की कितनी कीमत होती है? कुछ ज्यादा नहीं। केनवस की कितनी कीमत होती है? कुछ ज्यादा नहीं होती। लेकिन कोई भी श्रेष्ठ कृति, कोई भी श्रेष्ठ चित्र, रंग और केनवस का जोड़ नहीं है, जोड़ से कुछ ज्यादा है। 'समथिंग मोर'। एक कवि एक गीत लिखता है। उसके गीत में जो भी शब्द होते हैं वह सभी शब्द सामान्य होते हैं। उन

शब्दों को हम रोज बोलते हैं। शायद ही उस कविता में एकाध ऐसा शब्द मिल जाय जो हम न बोलते हों। न भी बोलते हों, परिचित तो होते हैं। फिर भी कोई कविता शब्दों का सिर्फ जोड़ नहीं है। शब्दों के जोड़ से कुछ ज्यादा है। समथिंग मोर। एक व्यक्ति सितार बजाता है। सितार को सुनकर हृदय पर जो परिणाम होते हैं वे केवल ध्वनि के आघात नहीं हैं, ध्वनि के आघात से कुछ ज्यादा हम तक पहुंच जाता है। इसे यों भी समझें, एक व्यक्ति आंख बन्द करके आपके हाथ को प्रेम से छूता है, स्पर्श वही होता है, वही व्यक्ति क्रोध से भरकर आपके हाथ को छूता है, स्पर्श वही होता है। जहां तक स्पर्श के शारीरिक मूल्यांकन का सवाल है, दोनों स्पर्श में कोई बुनियादी फर्क नहीं होता। फिर भी जब कोई प्रेम से भर कर हाथ को छूता है तो उसी छूने में से कुछ निकलता है जो बहुत भिन्न है, जब कोई क्रोध से छूता है तो कुछ निकलता है जो बिल्कुल और है; कोई अगर बिल्कुल निष्पक्षता से, तटस्थता से छूता है तो कुछ भी नहीं निकलता है। छूना एक सा है, स्पर्श एक सा है। अगर हम भौतिकशास्त्री से पूछने जायेंगे तो वह कहेगा, हाथ पर एक आदमी ने हाथ को छुआ, कितना दबाव पड़ा। दबाव नापा जा सकता है। हाथ पर कितना विद्युत का आघात पड़ा वह भी नापा जा सकता है। एक हाथ से दूसरे हाथ में कितनी ऊष्मा, कितनी गर्मी गयी, वह भी नापी जा सकती है। लेकिन वह ऊष्मा, वह हाथ का दबाव, किसी भी रास्ते से बता न सकेगा कि जिस आदमी ने छुआ उसने क्रोध से छुआ था, कि प्रेम से छुआ था। फिर भी स्पर्श के भेद हम अनुभव करते हैं—निश्चित ही स्पर्श। केवल हाथ की गर्मी, हाथ का दवाव, विद्युत के प्रभाव का जोड़ नहीं है, कुछ ज्यादा है।

जीवन कुछ श्रेष्ठतर गणित पर निर्भर है। यहां जिन चीजों को हमने जोड़ा था, उनसे नयी चीज पैदा हो जाती है, उनसे श्रेष्ठतर का जन्म हो जाता है। उनसे महत्वपूर्ण पैदा हो जाता है। क्षुद्रतम से भी महत्वपूर्ण पैदा हो जाता है। जिन्दगी साधारण गणित नहीं है। बहुत श्रेष्ठतर, गहरा, सूक्ष्म गणित है। ऐसा सूक्ष्म गणित है जहां आंकड़े बेकार हो जाते हैं। जहां गणित के जोड़ और घटाने के नियम बेकार हो जाते हैं। और जिस आदमी को जिन्दगी के पार, गणित के रहस्य का पता नहीं है उस आदमी को जिन्दगी का कोई भी पता नहीं है, उस हायर मैथमेटिक्स का ईशावास्य उपनिषद में कहा है कि पूर्ण से पूर्ण निकल आता है, फिर भी पीछे पूर्ण शेष रह जाता है। साधारण गणित के हिसाब से बिल्कुल गलत बात है। अगर हम किसी भी चीज में से कुछ निकाल लेंगे तो उतना ही शेष नहीं रह सकता, जितना था। कुछ कम हो जायगा। हो ही जाना चाहिए, अन्यथा हमारे निकाले हुए का क्या हुआ? अगर मैं एक तिजोरी में से दस रुपये निकाल लूं,

उसमें अरबों रुपये भरे हों, तो भी कम हो गये। दस पैसे भी निकाल लूं तो भी कम हो गये। उतना ही शेष नहीं रह सकता जितना पहले था। कितनी ही बड़ी तिजोरी हो, कुबेर का खजाना हो कि सोलोमन का, अगर दस पैसे भी हमने उसमें से निकाले तो तिजोरी उतनी नहीं है, जितनी थी। कुछ कम हो गयी। और कितना ही बड़ा खजाना हो, अगर हम दस कौड़ी भी उसमें डाल दें तो अब उतनी ही नहीं रही, जितनी थी। कुछ जुड़ गयी और ज्यादा हो गयी। लेकिन यह सूत्र कहता है कि पूर्ण से पूर्ण निकल आता है, थोड़ा भी नहीं। दस पैसे नहीं निकाल लेते, पूरी तिजोरी ही बाहर निकाल लेते हैं, पूर्ण से पूर्ण ही बाहर निकालते हैं, फिर भी पीछे पूर्ण ही शेष रह जाता है। या तो किसी पागल ने कहा है जिसे गणित का कोई भी पता नहीं। पहली कक्षा का विद्यार्थी भी जानता है कि कहीं कुछ निकाल लेंगे तो पीछे कमी हो जायेगी। और थोड़ा निकालेंगे तो भी कमी हो जायेगी, अगर पूरा निकाल लेंगे तब तो पीछे कुछ भी नहीं बचना चाहिए। पर यह सूत्र कहता है कि कुछ नहीं, पूरा ही बच जाता है। तब निश्चित ही तिजोरी को ही जो समझते हैं वह इसे नहीं समझ पायेंगे। तब किसी और दिशा से समझना पड़ेगा।

जब आप किसी को प्रेम देते हैं तो आपके पास प्रेम कम होता है ? आप पूरा ही प्रेम दे डालते हैं तब भी आपके पास कुछ कमी हो जाती है ? नहीं, आदमी के पास इस सूत्र को समझने के लिए जो निकटतम शब्द है वह 'प्रेम' है। उससे ही हमें पकड़ना पड़ेगा। सच तो यह है कि प्रेम आप कितना ही दे डालें उतना ही बच रहता है, जितना था। उसमें कोई भी कमी नहीं आती। बल्कि कुछ तो कहते हैं, वह और बढ़ जाता है। जितना आप देते हैं उतना बढ़ जाता है। जितना आप बांटते हैं, उतना गहन होता चला जाता है। जितना लुटाते हैं, उतना ही पाते हैं कि और उपलब्ध होता चला जा रहा है। जो अपने सारे प्रेम को फेंक दे बाहर, वह अनन्त प्रेम का मालिक हो जाता है। पूर्ण से पूर्ण निकल आये, और पीछे पूर्ण ही शेष रह जाय तो इसका अर्थ हुआ कि यह गणित से नहीं समझाया जा सकेगा, प्रेम से समझना पड़ेगा। इसलिए जो आइन्स्टीन के पास समझने जायेंगे, वह नहीं समझ पायेंगे। मीरां के पास समझने जायं तो शायद समझ में आ जाय। चैतन्य के पास समझने जायं तो शायद समझ में आ जाय। क्योंकि किसी और ही आयाम, किसी और ही डायमेंशन की बात है। जहां देने से घटता नहीं। आपके पास सिवाय प्रेम के और कोई ऐसा अनुभव नहीं है जिससे समझने की पहली चोट हो सके। पता नहीं, प्रेम का अनुभव भी है या नहीं क्योंकि सौ में से निन्यानवे को वह भी नहीं है। अगर आपको प्रेम देने से कुछ

कमी मालूम पड़ती हो तो आप समझ लेना कि आपको प्रेम का कोई अनुभव नहीं है। अगर आप प्रेम किसी को देते हों और भीतर लगता हो कि कुछ खाली हुआ, तो आप समझ लेना कि जो आपने दिया है वह कुछ और होगा, प्रेम नहीं हो सकता। वह फिर तिजोरी की ही दुनिया की कोई चीज होगी। वह पैसों से तुलने वाली चीज होगी। जो आंकड़ों में आंकी जा सके, तराजू में तोली जा सके, गजों से नापी जा सके, ऐसी कोई चीज मेजरेबल होगी। क्योंकि ध्यान रहे, जो मेजरेबल है वह घट जायेगा। जो भी नापा जा सकता है उसमें से कुछ भी निकालियेगा तो घट जायेगा। जो इम्मेजरेबल है, जो नहीं नापा जा सकता, अमाप है, वही केवल, कितना ही निकाल लीजिये, तो पीछे उतना ही बचेगा, जितना था।

प्रेम के देने से प्रेम कम हो जाता है ऐसा आप सबको लगता होगा, करीब करीब सबको। इसीलिए तो हम प्रेम पर मालकियत करते हैं। अगर मुझे कोई प्रेम करता है तो मैं चाहता हूं कि वह किसी और को प्रेम न करे। क्योंकि बंट जायेगा। कम हो जायेगा। पजेशन है। इसलिए मैं चाहता हूं कि जो मुझे प्रेम करता है वह दूसरे की तरफ प्रेम की नजर से भी न देखे। उसकी प्रेम की नजर किसी को मेरे लिए जहर बन जाती है। क्योंकि मैं जानता हूं कि घटा जाता है, कम हुआ जाता है। और अगर घट रहा हो, कम हो रहा हो तो समझना कि प्रेम का कोई पता ही नहीं है। अगर मुझे प्रेम का पता हो तो, जिसे मैं प्रेम करता हूं उससे मैं चाहूंगा कि वह जाये और लुटाये सारी दुनिया को प्रेम! क्योंकि जितना ही वह लुटायेगा उतना ही गहन उसको प्रगट होगा। जितना गहन उसे प्रगट होगा उतना ही वह मेरे प्रति भी प्रेम से गहन और भरपूर हो जायेगा। लेकिन नहीं, हम हायर मैथेमेटिक्स को नहीं जानते। हम एक लोअर मैथेमेटिक्स में रहते हैं, एक बहुत ही साधारण गणित की दुनिया में जीते हैं, जहां देने से सब चीजें कम हो जाती हैं। इसलिये डर स्वाभाविक है। पत्नी डरती है कि पति किसी को प्रेम न दे दे। पति डरता है कि पत्नी किसी को प्रेम न दे दे। किसी और को तो दूर है बात, घर में बच्चा भी पैदा होता है तो भी पत्नी और पति में कलह शुरू हो जाती है। बेटा भी प्रेम बांटता है अगर माँ का, तो पति को अड़चन होती है। अगर बेटी बाप के प्रेम को बांटती है तो मां को तकलीफ होती है। इसलिये जिस प्रेम को हम जानते हैं वह प्रेम नहीं है। उसकी कसौटी यह है कि जो बांटने से घटता है उसे आप भूल करके प्रेम मत जानना। और कठिनाई यह है कि प्रेम के अलावा और कोई अनुभव नहीं है जो इम्मेजरेबल है, और तो सब मेजरेबल हैं। जो भी हमारे पास है सब मापा जा

सकता हैं। हमारा क्रोध मापा जा सकता है, हमारी घृणा मापी जा सकती है, हमारा सब मापा जा सकता है। सिर्फ एक अनुभव है प्रेम का जो कि अमाप है। वह भी हम सब के पास नहीं है। इसीलिए तो हम परमात्मा को समझने में बड़ी कठिनाई अनुभव करते हैं। जो आदमी प्रेम को समझ लेगा वह परमात्मा को समझने की फिक्र ही छोड़ देगा – क्योंकि जिसने समझा प्रेम को, उसने समझा परमात्मा को। वे एक ही गणित के हिस्से हैं। वे एक ही डायमेंशन, एक ही आयाम की चीजें हैं।

जिसने पहचाना प्रेम को, वह कहेगा परमात्मा न भी मिले तो चलेगा, क्योंकि प्रेम मिल गया तो काफी है। बात हो गयी। परिचित हो गये हम उस श्रेष्ठतर जगत से जहां ऐसी चीजें होती हैं जो बांटने से घटती नहीं हैं, बढ़ती हैं। कितना ही दे डालो, उतनी ही शेष रह जाती हैं जितनी थीं। और ध्यान रहे, जिस दिन ऐसा अनुभव होता हे कि मेरे पास ऐसा प्रेम है जो मैं दे डालूं तो भी उतना ही बचता है जितना था, उसी दिन दूसरे से प्रेम की मांग क्षीण हो जाती है। क्योंकि कितना ही प्रेम मिल जाय, बढ़ नहीं सकता। ध्यान रहे, जिस चीज को देने से घट नहीं सकता उस चीज को लेने से बढ़ाया नहीं जा सकता। यह एक ही साथ होगा, लेकिन हम सब प्रेम मांगते हैं। बच्चे ही नहीं बूढ़े भी मांगते हैं। हम सब प्रेम मांगे चले जाते हैं। हमारी पूरी जिन्दगी प्रेम की भिक्षा है। मनोवैज्ञानिक तो कहते हैं, हमारी सारी तकलीफ एक है, हमारा सारा तनाव, हमारी सारी एंग्जाइटी, हमारी सारी चिन्ता एक है। और वह चिन्ता इतनी है कि प्रेम कैसे मिले ? और जब प्रेम नहीं मिलता तो हम सब्स्टीट्यूट खोजते हैं प्रेम के। हम फिर प्रेम के परिपूरक खोजते रहते हैं। इसका मतलब यह हुआ कि हमें फिर प्रेम का पता नहीं है। क्योंकि जो चीज मिलने से बढ़ जाय वह प्रेम नहीं है। कितना ही प्रेम मिल जाय, उतना ही रहेगा जितना था। जिस आदमी को प्रेम के इस सूत्र का पता चल जाय उसे दोहरी बातों का पता चल जाता है। कितना ही मैं दूं घटेगा नहीं। कितना ही मुझे मिले, बढ़ेगा नहीं। पूरा सागर मेरे ऊपर टूट जाये प्रेम का तो भी रत्ती भर बढ़ती नहीं होगी। और पूरा सागर मैं लुटा दूं तो भी रती भर कमी नहीं होगी। पूर्ण से पूर्ण निकल आता है, फिर भी पीछे पूर्ण शेष रह जाता है। परमात्मा से यह पूरा संसार निकल आता है। छोटा नहीं, अनंत, असीम, छोर नहीं, ओर नहीं, आदि नहीं, अंत नहीं ! इतना विराट सब निकल आता है फिर भी परमात्मा पूर्ण ही रह जाता है। और कल यह सब कुछ परम अस्तित्व में वापस गिर जायेगा, वापस लीन हो जायेगा, तो

भी वह पूर्ण ही होगा। नहीं कोई घटेगा, नहीं कोई बढ़ती होगी। इसे एक दिशा से और समझने की कोशिश करें।

सागर, हमारे अनुभव में, दिखायी पड़ने वाले अनुभव में, आंखों की इंद्रियों के जगत में. घटता-बढ़ता मालूम नहीं पड़ता, लेकिन घटता-बढ़ता है। यह सागर बहुत बड़ा है। अनन्त नहीं, विराट है। नदियां गिरती रहती हैं सागर में, बाहर नहीं आतीं। आकाश से बादल पानी को भरते रहते हैं, उलीचते रहते हैं सागर को, अभाव नहीं हो जाता। फिर भी वह घटता है। विराट है, अनंत नहीं है, असीम नहीं है। ब्रह्मपुत्र, गंगा, हवाँगहों, अमेजन, कितना पानी डालती रहती हैं प्रतिपल, सागर बस सागर रह जाता है। हर रोज सूरज उलीचता रहता है किरणों से पानी को। आकाश में जितने बादल भर जाते हैं वह सब सागर से आते हैं। फिर भी सागर जैसा था वैसा रहता है। फिर भी मैं कहता हूं कि सागर का अनुभव सच में ही घटने-बढ़ने का नहीं है, पर घटता-बढ़ता वह रहता है, लेकिन इतना बड़ा है कि हमें पता नहीं चलता।

आकाश हमारे अनुभव में एक दूसरी स्थिति है। सब कुछ आकाश में है। आकाश का अर्थ है, जिसमें सब कुछ है। अवकाश, स्पेस, जिसमें सारी चीजें हैं। ध्यान रहे, इसलिए आकाश किसी में नहीं हो सकता। और हम सोचते हों कि आकाश को भी होने के लिए किसी में होना पड़े, तो फिर हमें एक और महत् आकाश की कल्पना करनी पड़ेगी और फिर हम मुश्किल में पड़ेंगे। फिर हम अंतहीन नासमझी में पड़ जायेंगे। क्योंकि फिर वह महत आकाश किसमें होगा ? फिर इसका कोई अन्त नहीं होगा। इसलिए आकाश में सब है और आकाश किसी में नहीं है। आकाश सबको घेरे हुए है, और आकाश अनघिरा है। आकाश का अर्थ है, जिसमें सब है और जो किसी में नहीं है। इसलिए आकाश के भीतर सब कुछ निर्मित होता रहता है। आकाश उससे बड़ा नहीं हो जाता। आकाश के भीतर सब कुछ विसर्जित होता रहता है, आकाश उससे छोटा नहीं हो जाता। आकाश जैसा है वैसा, जैसा का तैसा, 'एज इट इज' ही रहता है। आकाश अपनी 'सचनेस' में, अपनी तथाता में रहता है। आप मकान बना लेते हैं, आप महल खड़ा कर लेते हैं; आपका महल गिर जायेगा, कल खण्डहर हो जायेगा, मिट्टी होकर नीचे गिर जायेगा। आकाश चूमने वाले महल जमीन पर खो जायेंगे वापस, आकाश को पता भी नहीं चलेगा। आपने जब महल बनाया था तब आकाश छोटा नहीं हो गया था। आपका महल जब गिर जायगा तब आकाश बड़ा नहीं हो जायेगा। आकाश में ही बनता है महल, और आकाश में ही

खो जाता है। आकाश में कोई अन्तर पैदा नहीं होता है। शायद, आकाश निकट-तर है, जिस बात को मैं आपको समझाना चाहता हूं उस बात के आकाश कितना ही अछूता मालूम पड़ता हो, फिर भी हमारे साधारण अनुभव में। ऐसा आता है कि आकाश कम-ज्यादा होता होगा। क्योंकि जहां मैं बैठा हूं, अगर आप वहीं बैठना चाहें तो नहीं बैठ सकेंगे। इसका मतलब यह हुआ कि उतने आकाश को मैंने घेर लिया अन्यथा आप भी मेरी जगह बैठ सकते हैं। एक जगह हम एक ही मकान बना सकते हैं, उस जगह दूसरा मकान न बना सकेंगे। उसी जगह तीसरा तो बिल्कुल न बना सकेंगे। क्यों? क्योंकि जो एक मकान हमने बनाया उस ने आकाश को घेर लिया। अगर आकाश को उसने घेर लिया तो आकाश किसी खास अर्थ में कम हो गया। इसीलिए तो मकान हमें ऊपर उठाने पड़ रहे हैं। मकान इसीलिए ऊपर उठाने पड़ रहे हैं कि जमीन की सतह पर जो आकाश है वह कम पड़ता जा रहा है। आकाश भी भरता मालूम पड़ता है और जब भरता है तो उसका अर्थ है कि उतनी जगह कम होगी। उतना रिक्त स्थान कम हो गया, उतनी एम्प्टी स्पेस कम हो गयी। जिस जमीन पर हम बैठे हैं, इस जगह पर अब दूसरी जमीन पैदा नहीं हो सकती। माना कि अनन्त आकाश चारों तरफ शून्य की तरह फैला हुआ है, कमी कोई नहीं है, लेकिन इतनी जगह पर तो रुकावट होगी। इतना आकाश तो कम हुआ, भर गया।

नहीं, परमात्मा इतना भी नहीं भरता। सागर मैंने कहा कि बहुत छोटा है, परमात्मा के हिसाब से। हमारे हिसाब से बहुत बड़ा है। गंगाओं और ब्रह्मपुत्रों के हिसाब से बहुत बड़ा है। कोई अन्तर नहीं पड़ता उनके गिरने से। फिर भी अन्तर पड़ता है। नाप-तोल में नहीं आता, लेकिन अन्तर पड़ता है। आकाश और भी बड़ा है। सागरों और महासागरों से बहुत बड़ा है। फिर भी, आकाश भी भर जाता मालूम होता है। परमात्मा पर एक छलांग और लगानी पड़ेगी, वहां तर्क सारा तोड़ देना पड़ेगा। परमात्मा यानी अस्तित्व। जो है! सिर्फ है! इजनेस, होना जिसका गुण है। हम कुछ भी करें, उसके होने में कोई अन्तर नहीं पड़ता। इसे वैज्ञानिक किसी और ढंग से कहते हैं। वे कहते हैं, हम किसी चीज को नष्ट नहीं कर सकते। इसका मतलब हुआ कि हम किसी चीज को 'हैपन' के बाहर नहीं निकाल सकते। अगर हम एक मिट्टी के टुकड़े को मिटाना चाहें तो हम राख बना लेंगे। लेकिन राख रहेगी। हम उसे चाहें सागर में फेंके दें, वह पानी में घुलकर डूब जायेगी। दिखायी नहीं पड़ेगी, लेकिन रहेगी। हम सब कुछ मिटा सकते हैं, लेकिन उसकी इजनेस, उसके होने को नहीं मिटा सकते। उसका होना

कायम रहेगा । हम कुछ भी करते चले जायं, उसके होने में कोई अन्तर नहीं पड़ेगा । होना बाकी रहेगा । हां, होने को हम शकल दे सकते हैं । हम हजार शकलें दे सकते हैं । हम नये नये रूप और आकार दे सकते हैं, हम आकार बदल सकते हैं, लेकिन जो उसके भीतर है उसे हम नहीं बदल सकते । वह रहेगा । कल मिट्टी थी, आज राख है । कल लकड़ी थी, आज कोयला है । कल कोयला था, आज हीरा है । लेकिन है । इसमें कोई फर्क नहीं पड़ता । 'है' कायम रहता है ।

परमात्मा का अर्थ है सारी चीजों के भीतर जो 'हैपन' है, जो, 'इजनेस' है, जो 'एग्जिस्टेंस' है, जो अस्तित्व है, होना है, —वही है ! कितनी ही चीजें बनती चली जायं उस होने में कुछ जुड़ता नहीं । और कितनी ही चीजें मिटती चली जायं, उस होने में कुछ कम होता नहीं । वह उतना का उतना ही, वही का वही, अलिप्त, असंगत और अस्पर्शित है । पानी पर भी हम रेखा खींचते हैं तो कुछ बनता है । मिट जाता है बनते ही, —लेकिन परमात्मा पर इस सारे अस्तित्व से इतनी भी रेखा नहीं खिंचती ! इतना भी नहीं बनता है ! इसलिये उपनिषद का वचन कहता है पूर्ण से, —उस पूर्ण से यह पूर्ण निकला ! यह हमारी गणित के लिये कठिन है, अपरिचित है ! अगर यह आपकी समझ में आया कि पूर्ण से पूर्ण निकल आता है और पीछे पूर्ण रह जाता है तो मैं और एक बात कहता हूं कि पूर्ण से अनंत पूर्ण निकल आते हैं तो भी पीछे पूर्ण रह जाता है । एक पूर्ण निकल कर अगर दूसरा पूर्ण न निकल सके तो उसका मतलब कि एक के निकलने के बाद पीछे कुछ कम हो गया है । एक पूर्ण के बाद दूसरा पूर्ण निकले, तीसरा पूर्ण निकले और पूर्ण निकलते चले जायं और पीछे सदा ही पूर्ण निकलने की उतनी ही क्षमता बनी रहे तभी पीछे पूर्ण शेष रहा । इसलिए ऐसा नहीं है कि आप परमात्मा के एक हिस्से हैं । जो ऐसा कहता है वह गलत कह रहा है । जो ऐसा कहता है कि आप एक अंश हैं परमात्मा के, वह गलत कहता है । वह फिर लोअर मैथमैटिक की बात करता है । वह उसी दुनिया की बात कर रहा है जहां दो और दो चार होते हैं । वह नापी-जोखी जाने वाली दुनिया की बात कर रहा है । मैं आपसे कहता हूं, उपनिषद आपसे यह कहते हैं, और जिन्होंने भी कभी जाना है वह यही कहते हैं कि तुम पूरे के पूरे परमात्मा हो । इसका यह मतलब नहीं कि पड़ोसी पूरा परमात्मा नहीं है । नहीं, इससे कोई अन्तर ही नहीं पड़ता है । एक एक वृक्ष पर गुलाब खिला है, पूरा खिल गया है, पड़ोस में एक दूसरी कली पूरी खिल गयी है । इस गुलाब के पूरे खिल जाने से बगल की कली के पूरे खिलने में कोई बाधा नहीं पड़ती। सहयोग भले मिलता हो, बाधा कोई नहीं पड़ती । हजार फूल खिल सकते हैं, पूरे के

पूरे खिल सकते हैं। परमात्मा की पूर्णता अनन्त पूर्णता है। अनंत पूर्णता का अर्थ है कि 'वह' कि उसमें से अनन्त पूर्ण प्रगट हो सकता है। एक एक व्यक्ति पूरा का पूरा परमात्मा है। एक एक अणु, पूरा का पूरा विराट है। पूर्ण में और उसमें रत्ती मात्र का भी कोई फर्क नहीं है। अगर फर्क है तो फिर कभी पूरा न हो सकेगा। फिर पूरा करने का कोई उपाय नहीं। और अगर कभी पूरा हो जाता है तो वह अभी ही पूरा है, सिर्फ हमें पता नहीं है। सिर्फ हमारे बोध की कमी है।

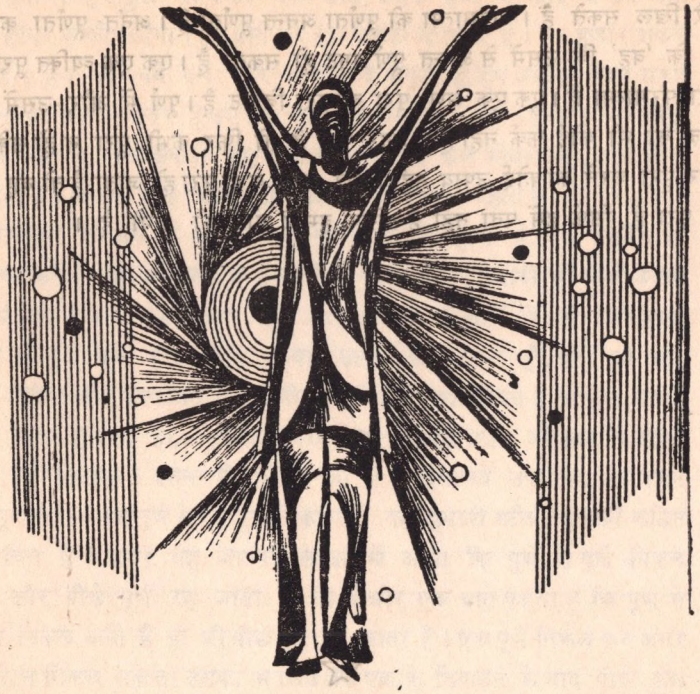

कहानी

एकदम मर जायँ !

• ब्रह्मदत्त

सम्पूर्ण वन-प्रान्तर भीत शिशु की भांति थरथरा रहा था। पवन अपने उनचास पुत्रों के साथ उस महारण्य में उतर पड़ा था। एक भी वस्तु थिर न थी। झंझा-वात वृक्षों को झकझोरे डाल रहा था झाड़ियां, लतायें, गुल्मादि पृथ्वी की गोद में मुंह छिपाने को झुक-झुक जा रहे थे। वर्षा का ताण्डव प्रचण्ड था। मिट्टी का एक-एक कण, वनस्पति का एक-एक पत्र जल से सराबोर हो कंपायमान हो रहा था। आकाश में चपल चपला निरंतर द्युतिमान् हो रही थी। उसकी भयंकर कड़कड़ाती ध्वनि से समस्त वन्य-भूमि भयानक रूप से दोलित हो रही थी। पूरा जंगल हाहाकार कर रहा था।

वन के मध्य में आचार्य ऋक्षनाथ पाषाण की तरह अकल, अचल, अटल खड़े थे। श्मश्रुपूर्ण भव्य मुखमंडल हिमगिरि की भांति शान्त, शीतल और स्निग्ध दृष्टिगोचर हो रहा था। मात्र एक अधोवस्त्र युक्त लोमश देह कंचन की तरह कान्तिमान् थी।

दीर्घ पद्माभ नेत्र अन्तरिक्ष की ओर अपलक देख रहे थे। सहसा उन्होंने अपनी दोनों भुजाओं को ऊपर आसमान की ओर उठाया। एक क्षण वे इसी स्थिति में रहे और फिर धीरे-धीरे दोनों हाथों को समेट अपने विशाल वक्षस्थल से लगा लिया। लगा कि जैसे वे आलिंगन कर रहे हों। लगा कि जैसे उन्होंने कोई वस्तु अपने भीतर भर ली हो। उनका पूरा शरीर, आपादमस्तक, एक बार हल्के से थरथराया। आंखों की पुतलियां हिलीं। आलोकित अरण्य पर दृष्टिपात हुआ। ओठों पर एक महीन मुस्कराहट जन्मी और उन्होंने दोनों हाथ उठाकर ग्रीवा पर बिखरी लटों को समेटा।

बादल गरजे।
बिजली कड़कड़ायी।
वर्षा प्रखर हुई।
आंधी का वेग बढ़ गया।

लटों को उमेठ कर उन्होंने सिर पर चूड़ धारण किया।

आंधी थम गयी।
वर्षा रुक गयी।
सौदामिनी लुक गयी।

सम्पूर्ण वन-प्रान्तर मरणासन्न व्यक्ति की भांति एक बार धीरे-से कांपा और शान्त हो गया।

❁ ❁ ❁

सेठ दीनानाथ ने हिकारत भरी नजरों से सामने खड़े दोनों युवकों को देखा।

"एस?" उन्होंने निचला होठ दांतों से चबाते हुए पूछा। कॉन्फ्रेन्स-टेबल के चारों ओर आरामदेह कुर्सिया लगी हुई थीं किंतु सेठ दीनानाथ ने उन दोनों को बैठने के लिए आमंत्रित नहीं किया। दोनों सकपकाये से खड़े थे। जो उम्र में कुछ बड़ा दिखायी दे रहा था, उसने कुछ साहस बताया और एक कदम आगे बढ़कर सेठजी के आगे एक-दो पैम्फलेट और एक रसीद-बुक रख दी।

"हवाट इज दिस?' एक्जिक्यूटिव-चेयर पर एक बार पूरा गोल घूमकर वे बायें हाथ से सब कागज एक साथ उठाकर चेहरे के निकट ले गये और फिर उपेक्षा से सब टेबल पर पटक दिया-" ओह गाड! अगेन" उनके होठ बुरी तरह बिदक गये, "अबकी क्या है?"

दूसरा युवक तेजी से आगे बढ़कर बोला,"सर, हमें आपको बारबार कष्ट देने में अत्यंत लज्जा अनुभव होती है किन्तु आप दयालु हैं, सज्जन हैं, दानवीर हैं....."

"बस-बस।" सेठ दीनानाथ ने फिर अपना निचला होठ चबाया, किंतु अबकी उनकी आंखों की कोरों में नरमाहट थी, "क्या चाहते हो वह कहो।"

"इधर स्कूल में एक पुस्तकालय और एक अपनी स्कूल-बस की अत्यंत आवश्यकता अनुभव की जा रही है।..---हम लोग उसी सिलसिले में-----।"

"हुं!" सेठ दीनानाथ के होठ पुनः बिदके। एक क्षण चुप रहे और फिर शान्त-स्वर से कहा,"मैंने पहले ही कहा था कि मैं पूरा स्कूल बनवा देता हूं मगर तुम लोग---।"

"आप ठीक कहते हैं, सर, किंतु हम क्या करें।-....मजदूरों ने बड़े प्रेम और उत्साह से अपना स्कूल स्वयं बनाने का निर्णय किया था।"

"तो फिर मेरे पास क्या जरूरत है आने की?" सेठजी की भृकुटिया' वक्र हुई।

"आप से तो बड़ी उम्मीदें हैं, सर।---इस क्षेत्र के आप------।"

"ठीक है---" सेठजी ने उबासी लेते हुए कहा,"सौ रुपये लिख लो मेरी ओर से।"

"सर!---आपसे बड़ी आशा थी---।"छोटे युवक ने हाथ जोड़ कर कहा।

"नो।--नॉट एटॉल।---मैं अभी भी कहता हूं। लायब्रेरी,स्कूल बस और जो कुछ भी कमी है, मैं सब अकेले कर देता हूं, पर हर चीज पर मेरा नाम होना चाहिए---।" सेठ दीनानाथ ने दोनों हाथ टेबल पर रखकर कहा।

दोनों युवकों ने सिर नीचे कर लिया। एक ने आगे बढ़कर रसीद-बुक उठा ली। दूसरे ने धीरे से कहा,"हम मजबूर हैं, सर। यूनियन के नेता मानते नहीं हैं। वो कहते हैं स्कूल उनका है। दूसरों का नाम नहीं चलने---।"वह हिचकिचाकर चुप हो गया।

रसीद बुक फाड़ते हुए बड़ा युवक बड़बड़ाया,"अहंकारी कहीं का।----"

* * *

अमरीकी उपग्रह द्वारा प्रेषित मौन समाचार-----

मध्य भारत के जबलपुर नामक नगर के निकट नर्मदा नदी के जंगलों से एक अद्भुत, रहस्यमय प्रकाश-पुंज आज प्रातःकाल ब्रह्म-मुहूर्त में उठता दिखायी पड़ा है। वह प्रकाश का गोला आसमान में सीधे दो हजार फुट तक ऊपर चला गया और फिर अत्यंत तीव्र गति से दक्षिण दिशा की ओर जाता दिखायी पड़ा है।--

प्रकाश पिंड की आगे की गतिविधि उपग्रह नहीं पकड़ सका। नाटो ने सेंटो को और सेंटो ने सीटो की फौजों को सतर्क कर दिया।

कुछ ही क्षणों बाद रूसी उपग्रह ने अपुष्ट समाचार प्रेषित किया—

अमरीकी उपग्रह ने जिस रहस्यमय प्रकाश-पुंज की सूचना दी थी, वह अदभुत प्रकाश-वृत्त भारत के दक्षिण–पश्चिम की ओर चला गया है। चिंता का कोई

विशेष कारण नहीं है क्योंकि अभी-अभी भारत की प्रसिद्ध नगरी बम्बई से यू. एस. एस. आर. कॉन्सुलेट जनरल ऑफ इनफॉर्मेशन ने खबर दी है कि वह अज्ञात प्रकाश – पिंड दक्षिण बम्बई के समुद्र-तट पर किसी अज्ञात-स्थान पर उतर गया है।---

संसार भर के सैनिकों ने अपनी अपनी कमर के पट्टे ढीले किये।

* * *

कानों की अनी तक मोटी मोटी कलमें रखे युवक ने अपने साथ के हिप्पी जैसे दिखायी देते लम्बे बालों वाले युवक को कुहनी से बगल में मारते हुए बोला देख।

लम्बे बालों वाले की आंखों में दिये टिमटिमा उठे। सामने साड़ियों की दुकान में दो नवयुवतियां काउण्टर पर पड़े साड़ियों के ढेर को उलट-पुलट रही थीं।

–चल। लम्बे बाल वाले ने कहा।

– ठहर। मोटी कलम वाला बोला।

थोड़ी देर तक दोनों कभी एक टांग पर, कभी दूसरी टांग पर खड़े होकर प्रतीक्षा करते रहे।

हाथ में एक लम्बा सा पैकेट लेकर दोनों लड़कियां दुकान से उतरीं और चौराहे की ओर बढ़ चलीं। दोनों युवकों के जबड़े सख्त हो गये और मुट्ठियां बांधे वे उन दोनों नवयुवतियों के पीछे हो लिये।

* * *

बाबुलनाथ के मंदिर मे अनायास ही घंटे बजने लगे। बुझी हुई ज्योतियां लपलपाकर जल उठीं। सुगन्धि-पात्रों से अपूर्व सुगन्धियां भरभराकर निकलीं। मंदिर के प्रांगण में जितने भी रिक्त बर्तन थे, सबके सब स्वच्छ जल से लबालब भर गये। मंदिर के द्वार पर पड़ा विशालकाय नगाड़ा जोरों से घनघनाने लगा।

बाबुलनाथ की पूरी टेकरी हल्के से एक बार हिली। लगा कि कहीं घुंघरू झनके। लगा कि नृत्य के लिये आतुर कोई चरण उठा। किन्तु तभी घूमती हुई पृथ्वी एक झटके के साथ सहमकर रुक गयी।

वातावरण में एक साथ सहस्रों शंखों की तुमुल-ध्वनि उभरी।

वायु के अणु-अणु पुकार उठे—हर-हर-हर-हर।

मंदिर के द्वार पर आचार्य ऋक्षनाथ अपने विशाल बाहुओं को वक्षस्थल पर बांधे प्रगट हुए।——

आकाश से फूल झरने लगे।

दिशाओं ने वेद मंत्रों का उच्चारण किया।

उनके ओठों पर एक अत्यंत कमनीय मुस्कराहट उत्पन्न हुई।

जल-तरंग बज उठा।

बड़े-बड़े नेत्र पूरी तरह खुल गये। ग्रीवा दायें से बायें घूमी और फिर बायें से सन्मुख हुई...।

वीणा के तार झनझना उठे।

बाहु खुले। शरीर तनाव-रहित हुआ। दाहिना चरण उठा।

मृदंग पर थाप पड़ी।

वे चल पड़े।

संगीत की जन्म-प्रक्रिया पूर्ण हुई।

* * *

जोरावरसिंह की कनपटियों की नसें खिंच गयीं। बुरी तरह दांत पीसता हुआ वह उठा और अपने छह वर्ष के लड़के को रुई की तरह धुन डाला। बड़ी लड़की कमरे के एक कोने में खड़ी हो सिसकने लगी।

—चुप। जोरावरसिंह ने लड़के को धमकाया और फिर भयंकर तेजी से लड़की की तरफ मुड़कर चीखा—तू भी चुप हो जा, नहीं तो गर्दन उमेठ दूंगा।

लड़की सहमकर दोनों हथेलियों से अपना मुंह दबाकर सिसकियों का दम घोंटने का प्रयत्न करने लगी।

—सब तेरी कारस्तानी है। वह पत्नी की तरफ मुड़ा—कहां गयी थी एक घंटे से? सच सच बता दे, वरना आज किसी को जिंदा नहीं छोड़ूंगा।

अत्यंत क्रोध से पागल हो रहे जोरावर ने पास ही पड़ी लकड़ी की तिपाई को उठा लिया। लगा कि जैसे वह पत्नी पर दे मारेगा। पत्नी की घिग्घी बंध गयी। सुबकते हुए बोली—रंजना मिल गयी थी बाजार में। जबरदस्ती घर ले गयी। मैंने बहुत कहा———

—चुप झुट्ठी कहीं की। रंजना का नाम लेती है? उस रावण का नाम लेने में शरम लगती है क्या?—जोरावर की आंखों में शोले भड़क उठे।

मोहनलाल तो घर पर भी नहीं था। सच कहती हूं। कसम से।—पत्नी ने गले के मांस को चुटकी से पकड़ते हुए कहा।

—चल-चल! बड़ी आयी सती-साध्वी कसम खानेवाली। ठहर, आज फैसला कर ही देता हूं। दो-दो बच्चों की मां हो गयी पर—। बच्चों को घर में अकेला छोड़

के गुलछर्रे उड़ाती फिरती है। देखता हूं तेरे मोहनलाल को।– जोरावर ने तिपाई पत्नी के पैरों के पास फेंक दिया। दौड़कर लकड़ी का कपबोर्ड खोला और उसमें से रामपुरी चाकू निकालकर पेट की जेब में डाला। फिर तेज़ी से दरवाजे की ओर लपका। पत्नी ने रोकने का प्रयत्न किया, किन्तु उसे ढकेलकर, दरवाजा बाहर से बंद कर वह नीचे सड़क पर उतर आया।

मोहनलाल, मोहनलाल, मोहनलाल।—उसका पूरा शरीर जल उठा। अंधे की तरह वह मोहनलाल के घर की ओर चला।

* * *

नृत्य प्रस्तुत हो रहा था।

आचार्य ऋक्षनाथ सीढ़ियों से उतर रहे थे। जिस सीढ़ी पर उनके चरण पड़ते वह फूल की तरह खिल उठती और हर खिली हुई सीढ़ी नृत्य का एक ताल बन जाती। वातावरण में तबले की ठनक और झांझों की झनक परिव्याप्त थी। आकाश से घुंघरुओं की छम-छम वर्षा के जल की भांति बरस रही थी।

वे सड़क पर उतर आये और पृथ्वी गोल गोल नाचने लगी। उन्होंने सिर उठाया और आकाश उछल पड़ा। उनकी पलकें हिलीं और हवाएँ थिरकने लगीं। वे मकानों के पास आये और मकान ठुमक उठे। वे वृक्षों के नीचे से गुजरे और वृक्ष झूमने लगे।

पूरी सृष्टि नृत्यमय हो गयी।

उनका हाथ जरा-सा हिलता और नृत्य-मुद्राओं की संख्या में अगणित वृद्धि हो जाती। भृकुटियां किंचित् मात्र गतिमय होतीं और भाव अनन्त रूपों में प्रगट हो जाता। वे एक श्वास लेते और सहस्र-सहस्र लयों की उत्पत्ति हो जाती।

चलते-चलते एकाएक वे रुक गये। उनके दिव्य मुखमण्डल पर करुणा के बादल उमड़ पड़े। पीपल के नवपल्लवों की भांति सुकोमल ओठ खुले। विद्युल्लता की तरह दंतावलि क्षणमात्र को चमक गयी। नेत्रों में विहंसते कमल दिखायी पड़े। उन्होंने अत्यंत मंथर गति से दोनों हाथ ऊपर उठाये और सिर की ओर ले गये।

* * *

धंधा जोरों पर था। लाटू सेठ अपनी छोटी-छोटी मूंछों पर बड़े प्रेम से दो उंगुलियां फिरा रहा था। इसी तरह एक महीना चल जाए तो पिछले महीने की कसर पूरी हो जाए। पचास हजार का माल कुछ कम नहीं होता। उसने सोचा और बम्बई की पूरी पुलिस-फोर्स के नर्क में चले जाने का सुनहरा ख्वाब देखने लगा।

ख्वाब ज्यादा देर जमा नहीं, क्योंकि बम्बई की पुलिस की एक एक नस से वह परिचित था ।

"सैन्डो, पाव सेर इदर ला रे ।" उसने अकुलाकर छोकरे को आदेश दिया। शायद ख्वाब कुछ गहरा जाए, उसने सोचा।

जब तक सैन्डो गिलास लाता उसने कमरे में बैठे अपने ग्राहकों पर दृष्टि फिरायी ।

कमरे के अंत में बच्चू अपने साथी के साथ बैठा पी रहा था। उसकी टेबल पर पांच-छह सोडे की बोतलें रखी थीं ।--आज गहरा हाथ भारा है। लाटू सेठ ने सोचा और दाहिनी ओर देखा। दाहिनी ओर बुड्ढा रामरतन अफसोस की मुद्रा में बैठा अपने बगलवाले से कुछ कह रहा था। लाटू सेठ मुस्कराया, वह अच्छी तरह जानता है कि रामरतन क्या कह रहा होगा...एक रुपये में पांच सेर घी, चार आने में सात दिन की सब्जी ।---- रामरतन के मुंह से रामरतन का बाल्यकाल शाहजहां के स्वर्णयुग से कम नहीं ठहरता।

लाटू सेठ ने सिर घुमाकर अपने सामने बैठे प्रिंस को देखा। प्रिन्स किसी राजा का बेटा नहीं है, सिर्फ नाम है, वह भी नकली। साथियों ने प्यार से दे रखा है। हालांकि प्रिन्स जैसा उसमें कुछ भी नहीं है, सिर्फ कपड़े वह लेटेस्ट से लेटेस्ट फैशन के पहनता है। है मक्कार। लोभी...लाटू सेठ ने सोचा। कपड़े की दुकान है। गरीब भागीदार को धोका देकर पूरी दुकान अपने नाम कर ली। भागीदार भी यहीं पीने आता है। बेचारा!

"सेठ, मोसम्बी कम है, सीरा लाऊं ?" सैन्डो ने पूछा ।

"ले आ।" लाटू सेठ ने जम्हाई लेकर कहा ।

अचानक दरवाजे के बाहर शोरगुल सुनायी पड़ा।

"पुलिस ! पुलिस !" कोई चिल्लाया ।

"रेड आ गयी। रेड आ गयी!" कमरे का दरवाजा भड़ाक से खुला और सभी मद्यपी बदहवास हो निकल भागे। लाटू सेठ पर दो केस चल रहे थे, तीसरे के लिए वह अभी तैयार नहीं था, वह भी भागती भीड़ के साथ हो लिया ।

* * *

आचार्य ऋक्षनाथ ने मुस्कराकर सिर पर आवेष्टित मौलि को मुक्त कर दिया। लटें ग्रीवा पर फैल गयीं ।

भयंकर रूप से कड़कड़ाकर बिजली छूटी ।

महाभयानक फूत्कार के साथ आंधी प्रकट हो गयी ।

अत्यंत भयावह गर्जना कर वर्षा भहरा पड़ी ।

पूरा शहर कंपायमान हो गया ।

आचार्य ऋक्षनाथ ने अर्ध निमीलित नेत्रों से सड़क पर दूर तक दृष्टि दौड़ायी। मद्यपों का झुंड उन्हीं की तरफ दौड़ता चला आ रहा था । सबसे आगे तस्कर बच्चू था । उसने बीच सड़क में खड़े आचार्य ऋक्षनाथ को देखा और बुरी तरह घबड़ाकर तेजी से दाहिनी ओर मुड़कर भागने की चेष्टा की, किन्तु मुड़ते ही उसके मुंह से एक भयानक चीख निकली और वह वहीं सड़क पर गिरा और मर गया ।

लाटू सेठ ने उसे गिरते देखा । उसे लगा कि बच्चू जैसे किसी प्रहार से गिरा हो । उसने आचार्य ऋक्षनाथ की और चकित आंखों से देखा । देखा और देखते ही आह करके भूमि पर लोट गया । वह जान भी नही पाया और मर गया। प्रिन्स उसके ठीक पीछे था। लाटू सेठ के शरीर से उसके पैर टकराये और वह गुलाटी खाकर गिरा। गिरते गिरते उसकी नजर अविचलित आचार्य ऋक्षनाथ पर पड़ी और उन्हें देखते ही वह तत्क्षण मर गया ।

तीन-तीन आगेवानों को इस तरह भू-पतित होते देख सभी मद्यप दिक्-भ्रमित हो सड़क पर चारों ओर मक्खियों की तरह फैल गये । कुछ निकल भागे, पर बहुतों की दृष्टि सड़क के मध्य में प्रस्तर-मूर्ति की भांति खड़े आचार्य ऋक्षनाथ के महाकाय पर पड़ी और वे भी वहीं के वहीं उसी क्षण मृत्यु को प्राप्त हो गये ।

रामरतन भीड़-भड़क्के में भटक रहा था । आचार्य ऋक्षनाथ को उसने देखा और चिल्ला पड़ा——राम । —— कृष्ण । —— मालिक । वह प्रचण्ड वेग से उनकी ओर दौड़ा और निकट आकर मर गया ।

लाशों का अम्बार लग गया । जैसे दिये की लौ पर पतिंगे आ-आकर गिर रहे हों वैसे आचार्य ऋक्षनाथ के चारों ओर मुर्दे ही मुर्दे पट गये । दिये की लौ तो फिर भी कुछ कांपती है, थरथराती है किन्तु वे अविकल, बिना जरा भी हिले-डुले, शान्त खड़े थे ।

प्रभंजन प्रचण्ड हो गया । वर्षा कुछ थमती लगी । तभी जोरावरसिंह क्रोध से अंधा बना, पतलून की जेब में चाकू को सख्ती से पकड़े, गली के मोड़ से निकल-कर बड़ी सडक पर आया । सड़क पर यत्र-तत्र शव पड़े हुए थे । साधारण जनों की भीड़ इकट्ठी हो गयी थी । जोरावरसिंह ने कुछ चौंककर पूरी तरह आंखें खोलीं । क्या हुआ है, जानने के लिए उसने सिर उठाया और आचार्य ऋक्षनाथ के भव्य मुखमंडल

पर उसकी दृष्टि जा पड़ी। उसका शरीर थरथराया, हाथ से चाकू छूट गया, दोनों हाथ सिर के ऊपर उठाकर उसने पूरी शक्ति से अट्टहास किया और हंसते-हंसते मर गया।

आचार्य ऋक्षनाथ की आंखों में कुछ तैर गया। उनकी पीठ की तरफ से दो नवयुवतियां आयीं। आचार्य ऋक्षनाथ को देखकर दोनों ने एक क्षण रुककर अनजाने में ही उन्हें हाथ जोड़कर प्रणाम किया और चल पड़ीं। उनके पीछे मोटी कलम वाले और लम्बे बाल वाले दोनों युवक भी आये। आचार्य ऋक्षनाथ के निकट आकर उन दोनों ने मुड़कर व्यंग्य से उनकी ओर देखा।

"अरे!" दोनों के मुंह से एक साथ निकला और दोनों वहीं सड़क पर ढेर हो गये।

आचार्य ऋक्षनाथ के तन से एक अपूर्व सुगन्धि उठी। अंधड़ के घोड़े पर सवार हो वह चारों दिशाओं में फैल गयी। दोनों ओर से मार्ग अवरुद्ध हो गया। सेठ दीनानाथ की कैडिलक सड़क के सिरे पर आकर रुक गयी। साइलैंस-जोन की उपेक्षा करते हुए ड्रायवर ने जोरों से हॉर्न बजाया।

"क्या बात है?" सेठ दीनानाथ ने पूछा।

"मालूम नहीं। बहुत भीड़ है। शायद कोई एक्सीडेंट हो गया है?" ड्रायवर ने कहा।

"किसी से पूछो।" सेठजी ने कुछ चिढ़कर ड्रायवर को आदेश दिया।

"एस सर।" ड्रायवर ने खिड़की से सिर निकालकर एक राहगीर से पूछा, "क्या हो गया है आगे? भीड़ क्यों है?"

"तुमको मालूम नहीं?" वह आदमी आश्चर्यचकित हो बोला, "अरे यमराज आया है, यमराज! जो देखता है पटाक से मर जाता है।"

"च्च।" ड्रायवर ने मुंह बनाया।

"हिप्नोटिस्ट है क्या?——लेट मी सी।" सेठ दीनानाथ ने कहा और कार का दरवाजा खोलकर उतर पड़े। भीड़ को हटाते हुए वह आगे बढ़े। पीछे-पीछे उन्हीं की तरह निचला होठ दांतों से चबाते हुए उनका ड्रायवर भी आया।

"इज दैट द मैन ——?" सेठ दीनानाथ ने अंगुली उठाकर कहा और अंगुली उठी की उठी रह गयी और उनके प्राण-पखेरू उड़ गये। ड्रायवर ने जोरों से होंठ को दांतों से दबाया। छलछलाकर खून निकल पड़ा। उसकी आंखें फट गयीं और वह सेठजी के शरीर पर चारो खानें चित्त जा गिरा।

वर्षा हो रही थी।

बिजली चमक रही थी।

आंधी चल रही थी।

प्रकृति का ताण्डव अपनी चरम सीमा पर था।

* * *

"क्या यह सच नहीं है कि जो आपको देखता है वह मर जाता है?" पुलिस इन्स्पेक्टर ने आचार्य ऋक्षनाथ की आंखों में देखने का प्रयत्न करते हुए पूछा।

"नहीं, यह मिथ्या आरोप है।" उन्होंने शून्य में देखते हुए कहा।

"तो क्या वे सब मुर्दे झूठे हैं?" इन्स्पेक्टर ने कहा और पुनः उनकी आंखों में झांका। उसे लगा कि कोई महाशक्तिशाली चुंबकीय शक्ति उसे किसी अनंत, लम्बी, गहरी खाई में खींचे ले जा रही है। उसने जोरों से अपना सिर झटका।

"मुर्दे कभी झूठे नहीं होते। पर वे सच भी नहीं हैं।" आचार्य ऋक्षनाथ मुस्कराये। जैसे कहीं घंटियां बज उठीं। इन्स्पेक्टर ने चौंककर इधर-उधर देखा।

"आप हैं कौन?" इन्स्पेक्टर ने टेबल पर की चीजों को इधर-उधर सरकाते हुए पूछा।

"मैं आचार्य ऋक्षनाथ हूं।"

"करते क्या हैं?"

"जो आचार्य का कार्य है।"

"क्या?" इन्स्पेक्टर ने दाहिनी तरफ खड़े हवलदार की ओर देखा।

"मृत्यु सिखाना और क्या!"

"क्या?" इन्स्पेक्टर के मुंह से चीख निकल पड़ी, "क्या? क्या कहा?"

"मैं मृत्यु सिखाता हूं।" आचार्य ऋक्षनाथ ने अत्यंत शीतल वाणी में कहा, "हैरान न होओ। बहुत प्राचीन समय में आचार्य का मतलब यह होता था कि जो मृत्यु सिखाये, जो महामृत्यु सिखाये। ऐसे सूत्र हैं जो कहते हैं आचार्य यानी मृत्यु। ——इसलिये नचिकेता जब पहुँच गया है यम के पास, तो वह ठीक आचार्य के पास पहुंच गया है। यम मृत्यु ही सिखा सकता है।"

"नचिकेता? कौन नचिकेता? और यह यम, कौन से स्कूल में है?" इन्स्पेक्टर ने एकदम सजग होकर पूछा।

"अज्ञानी——।" आचार्य ऋक्षनाथ के मुंह से निकला और वे उठ खड़े हुए। इन्स्पेक्टर ने सुना और अपनी कुर्सी पर बैठे-बैठे ही हवा निकले बैलून की तरह ढह गया।

"मैं जरूर मृत्यु सिखाता हूं लेकिन मैं जीवन का विरोधी नहीं हूं। इसका मतलब सिर्फ इतना है कि जीवन को जानने का, पहचानने का द्वार भी मृत्यु है। जिस दिन तुम मृत्यु को गले लगाओगे, आलिंगन करोगे, उस दिन मृत्यु हार जाती है और उसे गले लगानेवाला मृत्युंजय हो जाता है। आप मरना सीख लें तो जीवन और मृत्यु में बराबर खड़े हो जायं और परमजीवन को उपलब्ध हो जायं। परम जीवन में न जन्म है, न मृत्यु। हां, परमजीवन के दोनों पैर हैं– जन्म और मृत्यु।" आचार्य ऋक्षनाथ चुप हो गये। उन्होंने अपने सामने बैठे पत्रकारों पर दृष्टि घुमायी। सभी पत्रकार मंत्रमुग्ध बैठे थे। सभी के हाथों में कागज-कलम थे किन्तु कोई कुछ लिख नहीं रहा था। आचार्य ऋक्षनाथ के चुप होते ही उन्हें लगा कि जैसे कोई साज टूट गया, संगीत बिखर गया, घुंघरू छूट गये, नृत्य बीच ही में थम गया।

चौंककर सबों ने एक साथ सिर उठाया।

"और कुछ पूछना है?" उनके होठों पर मोहिनी मुस्कराहट जन्मी।

पत्रकारों में व्यग्रता उभरी। किसी को कुछ पूछना याद न था। किसी ने कुछ सुना ही न था। अंतिम वाक्य भर का ख्याल रहा गया था। एक तरुण पत्रकार ने शीघ्रता से प्रश्न किया, "जीवन परमजीवन कैसे हो सकता है?"

आचार्य ऋक्षनाथ फिर मुकरा पड़े, "जिस दिन जीवन मृत्यु के साथ रहने को राजी होता है, उस दिन जीवन परमजीवन हो जाता है। दरअसल दो तरह के लोग हैं। एक वे जिन्हें मृत्यु खोजती है और दूसरे वे जो मृत्यु को खोजते हैं। मृत्यु उन्हें खोजती है जो मृत्यु से भागते हैं। पर जो मृत्यु को खोजते हैं मृत्यु उनसे भागती है। इसलिए मैंने कहा मरना सीखना पड़ता है। और जीवन का सबसे बड़ा रहस्य यही है कि कैसे हम मरने को सीख लें और स्वीकार कर लें। जो मरने की कला सीख लेता है, वह जीवन की कला में भी निष्णात हो जाता है।....

"हम जीना चाहते हैं, हम मरना नहीं चाहते और हमें यह पता नहीं है कि जीने में ही मरना छिपा है। जन्म और मृत्यु में कोई विरोध नहीं है। गुण का नहीं सिर्फ मात्रा का फर्क है। नहीं तो कोई जन्मा हुआ व्यक्ति कभी नहीं मर पायेगा। जन्म बढ़ते-बढ़ते मृत्यु बन जाता है। एक ही चीज के दो बिन्दु हैं, दो छोर हैं। एक बीज है, बीज में विकास है। बीज मरता है, वृक्ष पैदा हो जाता है। जन्म ही मृत्यु बन जाता है। लेकिन न मालूम कैसी नासमझी है कि दुनिया में आदमी को यह खयाल बैठ गया है कि जीवन और मृत्यु में विरोध है, दोनों अलग बातें हैं...

"और जब एक बार हमने तय कर लिया कि हम मरना नहीं चाहते तो उसी वक्त तय हो गया कि हमारा जीना कठिनाई और मुश्किल में पड़ गया। जीवन

दुश्वार हो गया। इसीलिए मैं कहता हूं कि सिर्फ वे ही जो मिटना जान लेते हैं, वे ही होना भी जान पाते हैं। किंतु मौत से भागा हुआ, डरा हुआ आदमी इतना निराश, उदास, इतना ऊब गया है कि वह कुछ भी कर रहा है, लेकिन एक काम नहीं कर रहा है कि वह मौत को स्वीकार कर ले कि आओ !——स्थूल देह तक रुक गया अनुभव ही मनुष्य के जीवन का सारा अंधकार और दुःख है। जो मरने के लिए राजी हो जाता है, वह परम जीवन का अधिकारी हो जाता है।"

आचार्य ऋक्षनाथ चुप हो गये। सभी पत्रकार फिर कुलबुला उठे। उन्हें लगा कि जैसे मस्जिद में अजान बंद हो गयी, चर्च में घंटियां थम गयीं, मंदिर में शंख-ध्वनि को पूर्ण विराम लग गया। कोई उठना नहीं चाह रहा था, परन्तु शीघ्र ही कोई प्रश्न भी नहीं सूझ रहा था। आचार्य ऋक्षनाथ की ओर उन्होंने बड़ी हसरत भरी निगाहों से देखा कि जैसे वे ही कोई प्रश्न सुझा देंगे। परन्तु उन्होंने मुस्कराकर हल्के से सिर को एक ओर झटका।

इन्टरव्यू समाप्त हो गया। पत्रकार उठ खड़े हुए। चलते-चलते एक ने घूमकर तेजी से प्रश्न किया, "आचार्यश्री, यह क्या बात है कि आपको देखते ही लोग मर जाते हैं ?"

"यह सच नहीं है," उन्होंने अत्यंत शान्त स्वर में कहा।

"मगर ——— ?"

"इसलिए कि आप लोग भी तो मुझे देख रहे हैं।" वे धीरे से हंसे।

सभी पत्रकार ठिठक कर खड़े हो गये। एक क्षण वे ऐसे ही रहे फिर सभी मुक्त हृदय से खिलखिला कर हंस पड़े। हंसे और सबके सब वहीं उसी क्षण मर गये।

* * *

क्रॉस मैदान खचाखच भर गया था। परंतु अब भी लोगों के दल के दल चले आ रहे थे। नीचे भूमि पर यह हालत थी और ऊपर आकाश में मेघ इकट्ठे हो रहे थे। थोड़ी ही देर में नीचे-ऊपर कहीं भी तिल रखने की जगह शेष न रही। आचार्य ऋक्षनाथ एक विशाल मंच पर सुखासन में तर्जनी-मुद्रा धारण किए हुए बैठे थे। सब ओर निपट शान्ति छायी थी। कहीं कोई पत्ता भी खड़क नहीं रहा था। सहसा आचार्य ऋक्षनाथ ने सिर ऊपर उठाया। उनकी दृष्टि अनंत में गयी। एक क्षण वे इस स्थिति में रहे और फिर जन-मेदिनी की ओर मुखातिब हो बोले—

"इतनी अधिक संख्या में आप लोगों की उपस्थिति देखकर मैं बहुत प्रसन्न हूं, बहुत। अब मैं पूछना चाहूंगा, पूछना चाहूंगा तमाम उन लोगों से जो कहते हैं कि कोई मृत्यु नहीं चाहता, कोई मरना पसंद नहीं करता। अगर कोई मरना नहीं चाहता तो यहां इतने लोगों का इकट्ठा होना बेमानी है, एकदम बेमतलब है। मैं तो इस विशाल जनसमुदाय से यही अर्थ निकालूंगा कि दुनिया से अभी साहस उठ नहीं गया। दुनिया अभी इतनी कायर नहीं हुई। आप लोगों की उपस्थिति से मैं यही समझूंगा कि आप सब मरना चाहते हैं। मरना चाहते हैं ताकि जीवन के नये द्वार खुल सकें, प्रभु के मंदिर में प्रवेश हो सके, आनन्द की वर्षा हो सके।

"हां, परमात्मा के मंदिर पर लिखा है–'मरो'। परमात्मा के मंदिर में जीवन की रसधारा बह रही है। उस 'मरो' के साइनबोर्ड को देखकर लोग लौट जाते हैं। भीतर कोई नहीं जाता। बड़ी कुशलता की है, नहीं तो भीतर बहुत भीड़ हो जाय और जीना मुश्किल हो जाय।

"तो जीवन का जहां मंदिर है, वहां बाहर लिखा है– मरो। मरो और जीवन में प्रविष्ट हो जाओ। किंतु हम मरने की हिम्मत नहीं जुटा पाते। हम वह सब इकट्ठा करते जाते हैं जो मर गया। बूढ़े बचपन का सपना देखते हैं। वह बैठकर देखता है कि वे दिन ही और थे, वह बात ही और थी, बड़ा आनंद था। अभी बचपन नहीं मरा उसका। बूढ़े हो गये हैं, बिस्तर पर लगे हुए हैं लेकिन उनकी जवानी नहीं मरी है। वह विचार वही कर रहे हैं। जवानी के चित्र चल रहे हैं। चित्र नहीं मरे। कल मरता ही नहीं हमारा। हम मरने नहीं देते। बोझ की तरह इकट्ठा कर लेते हैं। उसके बोझ से हम जी नहीं पाते। तो मरने की कला का एक सूत्र यह भी है कि वह जो मर गया, उसे मर जाने दें। रोज रोज जो अतीत है, वह मर जाये। हम रोज ही मर जायें। कल की याद मर जाये।——

"हमारी वासनाएं, इच्छाएं, अनुभव, ज्ञान, इन सबका जो संग्रहीभूत बीज है, वह हमारा सूक्ष्म शरीर है। वही हमें आगे की यात्रा पर ले जाता है। लेकिन जिसके विचार, सारी इच्छाएं विलीन हो गयीं, उसे आगे जाने के लिए कोई जगह नहीं बचती, कोई कारण नहीं बचता। जन्म की कोई वजह रह नहीं जाती। सूक्ष्म शरीर है कारण-शरीर। उसके समाप्त होने पर कोई जन्म-मरण नहीं रह जाता है। जब आत्मा का सूक्ष्म शरीर गिर जाता है, तो आत्मा परम-मुक्ति को उपलब्ध हो जाती है।——"

आचार्य ऋक्षनाथ की रेशम की तरह सरसराती वाणी जन-सागर पर लहरों की तरह छाती चली जा रही थी। लोग सुन रहे थे और जो सुन लेते थे,

वे वहीं के वहीं मरते जा रहे थे।

कुछ ही देर बाद जनसमुदाय में आधे से अधिक लोग मर गये।

ऊपर आकाश में बादलों का हुजूम जोरों से अट्टहास कर उठा।

* * *

"बहुत लोग अपने को बचा रहे हैं।" आचार्य ऋक्षनाथ की वाणी विद्युत् गति से ऊपर की ओर गयी और बादलों से टकराकर कोटि-कोटि जल-बिन्दुओं में परिणत हो पुनः पृथ्वी पर लौटी। लोग आपाद-मस्तक भीग गये। बहुत से उठकर भागने लगे। आचार्य ऋक्षनाथ ने आह्वान किया।

"देखें, कोई उठने न पाये। अगर कोई उठे तो उसके पास-पड़ोस के दो-चार लोग उसे पकड़ लें और बैठा दें।"

पूरे क्रॉस मैदान में हँसियों की फुलझड़ियां फूट पड़ीं। वर्षा प्रखर हो गयी। आचार्य ऋक्षनाथ के मंच के पीछे खड़े एकाकी ऊंचे वृक्ष से आंधी चुपचाप उतरी और धीरे से चारों ओर फैल गयी।

"कोई अपने को रोके नहीं। कोई किसी किस्म की बाधा पैदा न करे। सुन रहें हों तो सिर्फ सुनें। तर्क न करें। देख रहें हो तो सिर्फ देखें। विचार न करें। जो कुछ भी करें ध्यान से करें। करने के साथ एक हो जायें। सिर्फ करना ही रह जाए, आप न रहें, आप न बचें।"

बादल गड़गड़ा उठे। वर्षा का वेग और बढ़ गया। आंधी ने सबको झकझोर डाला।

"जो अपने को बचायेगा, वह मरेगा। जो अपने को मिटायेगा, वह बचेगा। मर जायें। एकदम मर जायें। ऐसे हो जायें जैसे कि तुम हो ही नहीं। जैसे बूंद सागर में खो गयी। जैसे बीज मिट्टी में मिल गया। मिट जायें। एकदम मिट जायें। समाप्त हो जायें। कुछ भी शेष न रह जाये। सिर्फ परमात्मा बचा है। परमात्मा ही परमात्मा। चारों ओर परमात्मा। परमात्मा के सागर में डूब जायें, डूब जायें, डूब जायें.....।"

एकाएक आसमान में भयंकर कड़कड़ाहट के साथ बिजली कौंधी। एक क्षण को सभी स्तंभित और भयभीत हो गये किंतु तभी सभी मुर्दों ने चकित होकर मंच की ओर देखा।

मंच पर आचार्य ऋक्षनाथ नहीं थे। उन के स्थान पर मात्र एक महातेजस्वी प्रकाश-पुंज रह गया था!

१२।३४६, बेलासिस ब्रिज,
तारदेव, बम्बई-३४.

प्रतिकर्म और प्रतिसंवेदन

साधारणतः हम रिएक्शंस ही करते हैं । प्रतिक्रियाएं ही करते हैं । प्रतिकर्म ही करते हैं । कोई गाली देता है तो हमारे भीतर गाली पैदा हो जाती है । यह गाली हम नहीं देते । कोई हमसे दिला लेता है । ऐसे हम गुलाम हो जाते हैं । अगर आपसे मुझे गाली दिलानी है तो मैं दिला लूंगा । एक गाली भर देने की जरूरत है । आपको गाली देनी पड़ेगी । अगर आपमें मुझे क्रोध पैदा करना है, एक जरा से धक्के की जरूरत है, आप क्रोधी हो जायेंगे । मैं आप में क्रोध पैदा करा दूंगा तो आप गुलाम होंगे । जो चीज हम में दूसरे पैदा करवा लेते हैं वही हमारी गुलामियां हैं । रिएक्शन हमारी गुलामी है । और हम में सब तरह के रिएक्शन पैदा करवा लिये जाते हैं । कोई आदमी आता है और प्रशंसा करता है, हमारे प्राण पुलकित हो जाते हैं । कोई आदमी आता है, निन्दा करता है और हम उदास, एकदम गहन अंधेरी रात में खो जाते हैं । कोई आदमी आता है और कहता है, आप तो बहुत सुन्दर हैं और हम एकदम सुन्दर हो जाते हैं । और कोई कह देता है सुन्दर जरा भी नहीं, तो हम एकदम कुरूप हो जाते हैं । हम कुछ भी नहीं पब्लिक ओपिनियन हैं । लोग क्या कहते हैं वही हम हैं । इसलिए हम सब

अखबार की कटिंग काट-काटकर अपने पास रखते हैं कि कौन हमारे बाबत क्या कह रहा है। उन सबको हम अपने कपड़े पर नहीं लगाते हैं यही बड़ी कृपा है। पूरे समय हम सिर्फ रिएक्ट कर रहे हैं। कौन क्या कहता है, कौन क्या करवाता है हम वही कर लेते हैं। हम व्यक्ति नहीं हैं। व्यक्ति तो उसी दिन शुरू होते हैं जिस दिन रिस्पांस शुरू होता है।

रिस्पांस प्रतिसंवेदन है। प्रतिसंवेदन और प्रतिक्रिया में बड़ा फर्क है। समझें कि एक आदमी ने गाली दी आपको, तो प्रतिक्रिया में तो हमेशा गाली ही पैदा होगी आपमें। लेकिन प्रतिसंवेदन में दया भी आ सकती है। एक आदमी ने गाली दी आपको और आपको दिखाई पड़े कि बेचारा पता नहीं किस मुसीबत में गाली दे रहा है, तब प्रतिसंवेदन है, तब रिस्पांस है। तब आपने उसकी गाली के द्वारा गाली उभरे वह व्यवहार नहीं किया। आप अपना व्यवहार जारी रख रहे हैं। आपके भीतर जो व्यवहार पैदा हो रहा है वह उसकी गाली का यांत्रिक परिणाम नहीं है, चेतनगत प्रत्युत्तर है। इन दोनों म बड़ा फर्क है। एक बिजली का बटन हम दबाते हैं। पंखा चल पड़ता है। पंखा सोचता नहीं कि चलें, न चलें। बटन दबायी चलता है, बटन दबायी बन्द हो जाता है। आपको गाली दी, बटन दबायी, आप क्रोधित हो गये। आपकी प्रशंसा की, बटन दबायी क्रोध चला गया। तो आप व्यक्ति हैं या यंत्र हैं? आप जो व्यवहार कर रहे हैं वह यंत्र का सा है। रिएक्शन यांत्रिकता है, प्रतिक्रिया यांत्रिकता है। प्रतिसंवेदन चैतन्य का प्रतीक है। प्रतिसंवेदन बड़ी और बात है।

जीसस को लोगों ने सूली दी और जब अंतिम क्षण में जीसस से कहा गया कि प्रार्थना करो परमात्मा से तो उन्होंने प्रार्थना की कि इन सब लोगों को माफ कर देना। क्योंकि इन्हें पता ही नहीं कि ये क्या कर रहे हैं। यह प्रतिसंवेदन है। यह रिस्पांस है। यह एक चेतनगत उत्तर है। किसी को सूली दी जा रही हो उससे प्रतिक्रिया यह नहीं हो सकती। उससे प्रतिक्रिया तो यह होती है कि वह गाली देता, कर्स करता, अभिशाप देता कि मिटा डालो इन सबको। हे परमात्मा, तेरे प्यारे बेटे को ये सब सूली पर लटका रहे हैं। तू आग लगा देना, नर्क में जला डालना इनको,—यह प्रतिक्रिया होती। यह यांत्रिकता होती। जीसस ने कहा, माफ कर देना इनको। इनको पता नहीं कि ये क्या कर रहे हैं। यह प्रतिसंवेदन है।

इसलिए जिस व्यक्ति को साधना की दुनिया में प्रवेश करना है जिसे संन्यास की यात्रा करनी है उसे प्रति पल ध्यान रखना चाहिए कि वह जो कर

रहा है वह प्रतिक्रिया है या प्रतिसंवेदन है। वह रिएक्शन है या रिस्पांस है। रास्ते पर एक आदमी का धक्का लग गया है तब एक क्षण रुक जायं। जल्दी भी क्या है उत्तर देने की। एक क्षण रुक जायं। देख लें कि जो आप उत्तर दे रहे थे वह यांत्रिक है या सचेतन है। और आप मुश्किल में पड़ जायेंगे। आप यांत्रिक उत्तर फिर नहीं दे पायेंगे। हो सकता है हंसकर अपने रास्ते पर चले जायं, उत्तर दें ही नहीं। यह भी उत्तर होगा। लेकिन हम भी मौका नहीं देते। इधर बटन दबी, उधर काम हुआ। इधर धक्का लगा, उधर क्रोध निकला। इधर किसी ने प्रशंसा की, उधर हम गुब्बारे की तरह फूले।

बर्टेन्ड रसेल के संबंध में एक मजाक चल गया है। मजाक ही कहना चाहिए। क्योंकि पता नहीं उसने ऐसा किया कि नहीं किया। सुना है मैंने कि मरते वक्त उसके मुंह से निकला, 'हे परमात्मा!' पास में एक पादरी खड़ा हुआ था। वह तो बहुत चकित हुआ। वह बहुत डरते-डरते आया था। क्योंकि बर्टेन्ड रसल तो मानता नहीं था परमात्मा को, इसलिए उससे रिपेंटेंस के लिए, आखिरी प्रायश्चित्त के लिए कैसे कहे? वह डरा हुआ खड़ा है। और जब आखिरी क्षण में रसल के मुंह से निकला है—परमात्मा, तो उसकी हिम्मत बढ़ी। उसने कहा कि क्या तुम 'परमात्मा' को मानते हो? बर्टेन्ड रसल ने आंख खोली, कहा कि तुम कौन हो? उसने कहा कि मैं पादरी हूं। डरा हुआ खड़ा हूं। मैं आया था कि प्रायश्चित्त करवा दूं लेकिन सोचा कि तुम तो मानते ही नहीं परमात्मा को। अच्छा है तुम मानते हो तो प्रायश्चित्त कर लो। रसल ने कहा, घर आये मेहमान को वापस लौटाना ठीक नहीं। इसलिए मैं प्रायश्चित्त करता हूं। और बर्टेन्ड रसल ने कहा कि 'हे परमात्मा, यदि कोई परमात्मा हो, मेरी आत्मा को क्षमा कर देना यदि मेरी कोई आत्मा हो!' पादरी ने कहा, यह तुम क्या कर रहे हो? तो रसल ने कहा, कि बिना सोचे मैं कुछ भी नहीं कर सकता हूं। मुझे पता नहीं परमात्मा है या नहीं, मुझे पता नहीं आत्मा है या नहीं। तो ज्यादा से ज्यादा मैं यदि की भाषा में बोल सकता हूं। यदि परमात्मा हो तो क्षमा कर दे—इस बर्टेन्ड रसल को, यदि बर्टेन्ड रसल हो।

यह आदमी मृत्यु के प्रति भी रिएक्शन नहीं कर रहा है। यह आदमी मृत्यु के प्रति भी रिस्पांस कर रहा है। यह आदमी मृत्यु के क्षण में भी घबरा नहीं गया है। एक मित्र हैं। बड़े पुराने विचारक हैं। बड़े पंडित हैं। कृष्णमूर्ति को निरंतर सुनते हैं। तो मुझसे एक दफा कहा कि अब तो मेरे मन से सब हट गया—राम, ओम्, मंत्र, सब हट गये। मैंने पूछा पक्के हट गये हैं? उन्होंने

कहा, बिल्कुल हट गये हैं । अब तो मेरे मन में कोई जगह नहीं रही । न मैं भजन करता हूँ, न मैं भगवान का नाम लेता हूँ, क्योंकि उसका कोई नाम नहीं है। उसका कोई भजन नहीं है। मैं कृष्णमूर्ति को सुनता हूं । मेरे बात बिल्कुल समझ में आ गयी। मैंने सोचा, आदमी तो बड़ा अच्छे हैं। लेकिन इतने जोर से कह रहे हैं 'कि बिल्कुल समझ में आ गयी,' तो भीतर कहीं न कहीं संदेह होना चाहिए । फिर भी मैंने कहा, अच्छा है कि आ गयी । दो-एक महीने बाद उनको हृदय का दौरा हुआ। उनके लड़के ने मुझे खबर भेजी कि वे बहुत घबरा रहे हैं, आप आइये । मैं गया। वे आंख बन्द किये हैं । और राम, राम, राम, कहे चले जा रहे हैं । मैंने उन्हें हिलाया कि क्या कर रहे हैं? उन्होंने आंख खोली कहा, पता नहीं। उन्होंने कहा कि जैसे ही लगा कि मौत करीब है, मन ने कहा जाने दो कृष्णमूर्ति को। फिर तो मेरे बस में कुछ न रहा। फिर तो मेरे मुंह से राम अनायास निकलने ही लगा । अब यह मैं कह नहीं रहा हूं यह हो रहा है। यह सिर्फ हो रहा है । घबराहट में राम, राम निकल रहा है । यह रिएक्शन है । यह आदमी भगवान को मानने वाला है, लेकिन रिएक्शन कर रहा है। बर्टेन्ड रसल भगवान को मानने वाला नहीं है, लेकिन रिस्पांस कर रहा है। मैं मानता हूं बर्टेन्ड रसल किसी दिन भगवान को पा सकता है। यह आदमी भगवान को किसी दिन नहीं पा सकता है। क्योंकि जो व्यक्ति सचेतन व्यवहार कर रहा है हृदय में, वह आदमी आत्मवान होने का सबूत दे रहा है। बर्टेन्ड रसल का यह वक्तव्य कि यदि कोई आत्मा हो, तो हे परमात्मा, यदि कोई परमात्मा हो तो, माफ कर देना, बड़ा सचेतन वक्तव्य है। बड़ा आत्मवान वक्तव्य है। आत्मा के संबंध में भी 'यदि' लगाने वाला व्यक्ति, मरते क्षण में परमात्मा के संबंध में भी 'यदि' लगाने वाला व्यक्ति, अपने आत्मवान होने की पूरी सूचना दे रहा है। भयभीत नहीं है। मृत्यु से घबरा नहीं गया है। वह उसके साथ पूरा पूरा खड़ा है। प्रतिसंवेदन है यह। प्रत्युत्तर है लेकिन यह सचेतन है। इतना फर्क अगर स्मरण रहे तो रिएक्शन से बचना, रिस्पांस की ओर बढ़ना है। प्रतिक्रिया से बचना प्रत्युत्तर की तरफ बढ़ना है। और जिस दिन जीवन, सचेतन प्रत्युत्तर बन जाता है उसी दिन जीवन में आत्मवानता पैदा होती है। ऐसा आत्मवान व्यक्ति ही परमात्मा को पाने में किसी दिन समर्थ हो पाता है।

स्वयम्भू सर्वज्ञ शुद्ध

ऐसा है

आत्मतत्व

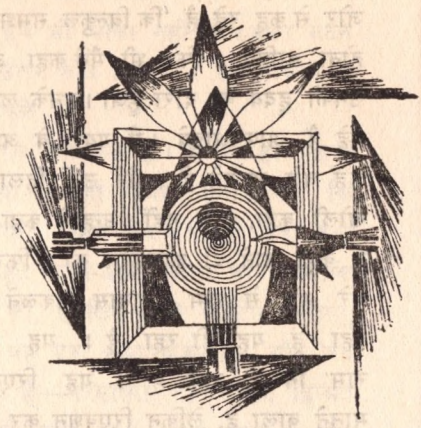

इस जगत में अस्तित्व के अतिरिक्त और कुछ भी स्वयम्भू नहीं है। स्वयम्भू का अर्थ है सेल्फ ओरिजनेटिव। स्वयम्भू का अर्थ है, जो किसी और के द्वारा पैदा नहीं किया गया। स्वयम्भू का अर्थ है जो किसी और के द्वारा सृजा नहीं गया, जो स्वयं ही हुआ है। जिसका होना स्वयं से ही निकला है। जिसका अस्तित्व किसी और के हाथ म नहीं, जिसका अस्तित्व स्वयं में ही निर्भर है। आत्मतत्व स्वयंभू है, यह पहली बात ख्याल में ले लेनी चाहिए। हम जिन चीजों को देखते हैं वे निर्मित हो सकती हैं। जो जो निर्मित हो सकता है, जो भी बनाया जा सकता है, वह आत्मतत्व नहीं होगा। एक मकान हम बनाते हैं। मकान स्वयम्भू नहीं है, निर्मित है। एक यंत्र हम बनाते हैं वह स्वयम्भू नहीं है, निर्मित है। हमने बनाया है। उस तत्व को खोजें जो हमने नहीं बनाया है, किसी ने भी नहीं बनाया है। जो अनबना है, अनक्रियेटेड है। उस तत्व का नाम ही आत्मतत्व है। यदि हम जगत के अस्तित्व में खोजते हुए वहां तक पहुंच जायं, उस आधार को पकड़ लें, जिसे किसी ने भी नहीं बनाया, जो है सदा से, अनबना, स्वयं ही, तो हम परमात्मा को पा लेंगे। और अगर हम अपने भीतर प्रवेश करें और खोजते चले जायं और वहां पहुंच जायं जो अनबना है, स्वयं है, तो हम आत्मा को पा लेंगे। आत्मा और परमात्मा दो बातें नहीं हैं। एक ही वस्तु को दो दिशाओं से

दिये गये नाम हैं । अगर आपने 'स्वयं' में खोजा तो उस अनिर्मित, असृष्ट, स्वयम्भू तत्व का नाम आत्मा है, और अगर आपने 'पर' में खोजा और पाया, तो उस तत्व का नाम परमात्म तत्व है। आत्मा, परमात्मा ही है भीतर की तरफ से पकड़ी गयी। परमात्मा आत्मा ही है, बाहर की तरफ से खोजा गया।

स्वयं में यदि हम प्रवेश करें तो यह शरीर सृष्ट है। यह आपके मां और पिता के बिना निर्मित नहीं होता। या कल टेस्ट्टचूब में भी निर्मित हो सके तो भी सृष्ट ही होगा। इसलिए पश्चिम के वैज्ञानिक, जीवशास्त्री आज नहीं कल अपने दावे को पूरा कर लेंगे, वह शरीर को निर्मित कर लेंगे । शरीर को निर्मित करने से, उन्हें लगता है, कि शायद वह आत्मवादियों को आखिरी पराजय दे देंगे। वे भूल में हैं क्योंकि आत्मवादी ने कभी आग्रह नहीं किया कि यह शरीर आत्मा है। आत्मवादी कहता है, जो असृष्ट है वही आत्मा है। शरीर का सृजन करके वह इतना ही सिद्ध करेंगे कि शरीर आत्मा नहीं है। शरीर किसी दिन निर्मित हो जायगा। मैं इसमें कहीं कोई कारण नहीं देखता हूं कि निर्मित क्यों नहीं हो जायेगा। बहुत से आत्मवादी भी डरे हुए हैं कि जिस दिन टेस्ट्टचूब में, लेबोरेटरी में, प्रयोगशाला में शरीर निर्मित हो जायेगा, उस दिन आत्मा का क्या होगा ? जिस दिन हम बच्चे को बिना मां-बाप की सहायता के केमिकल, रासायनिक व्यवस्था से निर्मित कर लेंगे और वह ठीक मनुष्य जैसा खड़ा हो जायेगा, फिर उस दिन तो आत्मा नहीं है, सिद्ध हो गया। उन आत्मवादियों को भी पता नहीं है कि आत्मवाद ने कभी शरीर को आत्मा कहा नहीं है। किसी दिन वैज्ञानिक अगर यह कर सके तो उससे सिर्फ उपनिषद का यह सूत्र ही सिद्ध होगा कि देखो, यह शरीर भी आत्मा नहीं है। इतना ही सिद्ध होगा, और कुछ भी सिद्ध नहीं होगा। अभी भी हम जानते हैं कि शरीर आत्मा नहीं है। अभी भी प्राकृतिक व्यवस्था से वह निर्मित होता है। कल कृत्रिम और वैज्ञानिक व्यवस्था से निर्मित हो सकेगा । आज भी जब मां और पिता के रासायनिक तत्व मिलकर उस अंग का निर्माण करते हैं जो शरीर का पहला घटक है, तो आत्मा उसमें प्रवेश करती है । कल अगर विज्ञान की प्रयोगशाला में वह घटक, वह सेल निर्मित हो गया, वह जेनेटिक सिचुएशन, वह स्थिति पैदा हो गयी, जो मां-बाप के द्वारा पैदा होती रही है अभी तक, तो वहां आत्मा प्रवेश कर जायेगी। लेकिन वह कोष्ठ, रासायनिक कोष्ठ, जो शरीर का पहला घटक है, वह आत्मा नहीं है, वह निर्मित है। स्वयंभू नहीं है। किसी के द्वारा बना है। किसी के ऊपर उसका होना निर्भर है, इसलिए उसे आत्मतत्व कहने को आत्मज्ञानी तैयार नहीं होंगे। वह आत्मतत्व नहीं है।

और पीछे चलना पड़ेगा, और गहरे उतरना पड़ेगा। मैं तो खुश हूं कि विज्ञान जितनी जल्दी शरीर को निर्मित कर ले उतना अच्छा है। तब हम ठीक जान पायेंगें कि शरीर एक यंत्र है। शरीर को स्वयं मानना नासमझी है। अभी भी नासमझी है, लेकिन अभी हमें पता नहीं चलता है कि शरीर यंत्र है। अभी भी यंत्र ही है। यह प्रकृति से उत्पन्न है। फिर हम प्रकृति के राज को समझकर स्वयं निर्माण कर लेंगे। तब शरीर के साथ तादात्म्य तोड़ने में सहयोग मिलेगा। स्वयं के भीतर प्रवेश करके उस जगह तक पहुंचना है जिसे निर्मित न किया जा सके। और जहां तक निर्मित किया जा सके वहां तक जानना कि आत्मतत्व नहीं है। इसलिए विज्ञान जितने गहरे तक निर्माण कर ले, उतना धर्म के पक्ष में है; क्योंकि उतने दूर तक तय हो गया है कि आत्मतत्व नहीं है, आत्म-तत्व और आगे है।

आत्मतत्व सदा ही जहां तक निर्माण होगा उसके बियान्ड है, उसके पार, उसके अतीत है। यह तो विज्ञान की बड़ी कृपा है कि वह निर्माण करता चला जाय। जहां तक निर्माण हो जायगा वहां तक सीमा निर्धारित हो जायेगी कि अब यहां तक तो आत्मतत्व नहीं है। क्योंकि आत्मतत्व हम कहते हैं स्वयंभू को, जो अनिर्मित है। जो निर्मित नहीं हो सकता। स्वयम्भू का अर्थ है, मूल में जो है। निश्चित ही, इस अस्तित्व के होने के लिए कहीं कोई आधारभूत, अल्टी-मेट, आत्यंतिक तत्व तो चाहिए जो अनिर्मित हो। अगर हर चीज को निर्मित होने की जरूरत पड़े तो निर्माण असंभव हो जायेगा। कहें कि जगत को बनाने के लिए परमात्मा की जरूरत है, फिर कहें कि परमात्मा को बनाने के लिए किसी और परमात्मा की जरूरत है। फिर इस जरूरत का कोई अन्त नहीं होगा। वह जगह आयगी ही नहीं जहां हम कह सकें कि बस ठीक है, यहाँ वह जगह आ गयी जिसके निर्माण की किसी को जरूरत नहीं है।

इसे ऐसा समझें तो और भी अच्छा और वैज्ञानिक होगा। आत्मतत्व स्वयंभू है, ऐसा न कहकर ज्यादा वैज्ञानिक होगा कहना कि हम कहें, जो स्वयम्भू है वह आत्मतत्व है। ऐसा न कहकर कि परमात्मा को किसी ने नहीं बनाया, ये कहना ज्यादा वैज्ञानिक होगा कि जिसे किसी ने नहीं बनाया है, जो अनबना है, हम उसे ही परमात्मा कहते हैं। विज्ञान को भी अनुभव होता है, जगह जगह सीमा आ जाती है और लगता है, इसके पार जो है वह निर्माण के बाहर है। जैसे अभी, विज्ञान निरंतर सोचता था, खोजता था तत्वों को, एलिमेंटस् को। जैसे पुराने वैज्ञानिक कहते थे, पांच तत्व हैं। पुराने धार्मिक नहीं, क्योंकि धार्मिक को

तत्वों से प्रयोजन ही नहीं है। धार्मिक को तो सिर्फ एक से ही प्रयोजन है, स्वयम्भू तत्व से। पुराने तथ्य, पुराने ढंग का चार या पांच हजार साल का पुराना जो वैज्ञानिक चिन्तन था वह कहता था, पंच तत्व से निर्मित है सब। गलती यह हो गयी कि उन दिनों कोई विज्ञान की किताबें अलग नहीं होती थीं, धर्म की किताबों में ही सब कुछ लिखा जाता था। धर्म की किताबें उस समय के ज्ञान का समुच्चय हैं इसलिए यह बात भी, कि पंच तत्वों से सब निर्मित है, धर्म की किताबों में उपलब्ध है। लेकिन यह बात वैज्ञानिक है, यह बात धार्मिक नहीं है। धर्म को तो एक ही तत्व की खोज है, स्वयम्भू तत्व की। फिर विज्ञान खोज करता चला गया। उसने पाया कि पंच तत्वों का सिद्धान्त गलत है। जब विज्ञान ने यह पाया कि पंच तत्व का सिद्धांत गलत है तो नासमझ धार्मिक बड़े परेशान हुए। उन्होंने समझा कि सब गड़बड़ हो गयी। क्योंकि हम तो मानते थे पंच तत्व। विज्ञान धीरे धीरे नये तत्व खोजता चला गया और एक सौ आठ तक संख्या पहुंच गयी। लेकिन विज्ञान की नयी खोज पुराने विज्ञान को गलत करती है, विज्ञान की कोई खोज धर्म को गलत नहीं कर सकती। उसका कारण है कि दोनों के आयाम अलग हैं। कोई कितनी अच्छी कविता निर्मित कर ले, किसी गणित के सिद्धांत को गलत नहीं कर सकता, क्योंकि कविता और गणित की कोई संगति नहीं है। कोई कितना ही गणित का गहरा सिद्धांत खोज ले, उससे कोई कविता गलत नहीं होने वाली है। क्योंकि काव्य का आयाम अलग है, वे कहीं कटते नहीं। वे कहीं एक दूसरे को आर पार नहीं करते। वे छूते भी नहीं। यह सब आयाम पेरलल, रेल की पटरियों की तरह दौड़ते हैं समानान्तर। कहीं अगर मिलते हुए मालूम पड़ते हैं तो वह आपकी भ्रांति है—। जब आप वहां जायेंगे तो पायेंगे, वे कहीं नहीं मिलते, वे समानान्तर दौड़ते ही चले जाते हैं।

विज्ञान जब भी किसी चीज को गलत करता है तो वह पुराने विज्ञान को गलत करता है। अगर विज्ञान ने कहा कि जमीन चपटी नहीं है, जमीन गोल है, तो ईसाइयत बहुत घबरा गयी, क्योंकि बाइबिल में लिखा है कि जमीन चपटी है। लेकिन बाइबिल में जो लिखा है जमीन चपटी है, यह बाइबिल के जमाने के वैज्ञानिकों की घोषणा है। यह कोई धार्मिक घोषणा नहीं है। इसलिए अगर विज्ञान ने खोज कर ली कि जमीन गोल है तो ठीक है, पुरानी बात गलत हो गयी। लेकिन पुराना विज्ञान गलत हुआ। विज्ञान कभी भी धर्म को गलत नहीं कर सकता और न धर्म कभी विज्ञान को गलत कर सकता है। उनका कोई संबंध नहीं है। उनका कोई लेन-देन नहीं है। उनके बीच कोई कम्युनिकेशन भी नहीं है। वह आयाम

भिन्न है। वे दिशाएं बिलकुल अलग है। यह पंच तत्वों की खोज एक सौ आठ तत्वों तक चली गयी थी। और विज्ञान ने पाया कि पुराने पंच तत्व गलत थे। गलत ही थे।

असल में जिनको पहले तत्व कहा था वह तत्व नहीं थे। कम्पाउंड्स थे, एलीमेंट्स नहीं थे। जैसे मिट्टी,–अब मिट्टी में हजार तत्व हैं। मिट्टी में एक तत्व नहीं है। जैसे पानी,– तो पानी में अब विज्ञान कहता है दो तत्व हैं, हाईड्रोजन और आक्सीजन। एक तत्व नहीं है पानी में। पानी दो तत्वों का जोड़ है। जोड़ को विज्ञान तत्व नहीं कहता, संयोग कहता है। तो पानी कोई तत्व नहीं रहा। आक्सीजन और हाईड्रोजन तत्व हो गये। इस तरह एक सौ आठ तत्व विज्ञान ने खोज लिये हैं। लेकिन फिर विज्ञान को भी, जैसे जैसे गहरी खोज हुई, एक बात ख्याल में आने लगी कि इन सब तत्वों के, एक सौ आठ तत्वों के, घटक समान हैं। हाईड्रोजन हो कि आक्सिजन हो, उन दोनों का निर्माण विद्युत से ही होता है। इसका मतलब यह हुआ कि हाईड्रोजन और आक्सिजन भी तत्व नहीं रह गये। तत्व तो विद्युत हो गयी, इलेक्ट्रिसिटी हो गयी। विद्युत के ही कुछ कणों का जोड़ हाईड्रोजन बनता है और कुछ कणों का जोड़ आक्सिजन बनता है। और ये एक सौ आठ तत्व विद्युत के ही कणों के जोड़ हैं। अगर तीन कण होते हैं तो एक तत्व बन जाता है, दो कण होते हैं तो एक तत्व बन जाता है, चार होते हैं तो एक तत्व बन जाता है। लेकिन वह तीन हों कि चार हों कि दो हों, वह सभी इलेक्ट्रान हैं, बिजली के कण हैं। फिर विज्ञान को एक नयी अनुभूति हुई और वह यह हुई कि तत्व तो सिर्फ विद्युत है–एक ही। बाकी एक सौ आठ तत्व भी गहरे में कम्पाउंड्स हैं। ये भी जोड़ा हैं। ये भी तत्व नहीं हैं। ये भी मूल नहीं हैं। आज जो विज्ञान की स्थिति है, उसमें वह मानने को तैयार हो गया है कि विद्युत अनिर्मित है। स्वयम्भू है। विद्युत एकमात्र तत्व है, जिससे सारा फैलाव है। विद्युत चूंकि कम्पाउंड नहीं, मिला हुआ नहीं है दो तत्वों से, इसलिए अनिर्मित है। वह नहीं बनाया जा सकता। क्योंकि जो चीज जोड़कर बन सकती है, वह बनायी जा सकती है। दो चोजों को आप जोड़ देंगें, तीसरी चीज बन जायेगी। तीन चीजों को जोड़ देंगे चौथी चीज बन जायेगी। लेकिन मूल तत्व, जो ओरीजनल एलीमेन्ट है, जो बिना जोड़ का है, उसको आप कैसे बनायेंगे? उसको बना भी नहीं सकते, मिटा भी नहीं सकते। अगर हमें पानी को मिटाना हो, तो मिटा सकते हैं। हाईड्रोजन और आक्सीजन को अलग कर देंगे, पानी मिट जायेगा। क्योंकि वह जोड़ है। अगर हमें हाईड्रोजन को मिटाना है तो हम उसे भी मिटा

दगे। अगर हमने उसके विद्युत के कणों को अलग कर दिया, (जिसको हम एटामिक इनर्जी कहते है, वह सिर्फ विद्युत के कणों को अलग करना है) तो हाईड्रोजन मिट जायेगा। हाईड्रोजन नहीं बचेगा। सिर्फ विद्युत ऊर्जा रह जायेगी। सिर्फ शक्ति रह जायगी। लेकिन उस शक्ति को हम नही मिटा सकते, क्योंकि उसमें दो का जोड़ नहीं है जिसको हम अलग कर सकें। हम सिर्फ इतना ही कर सकते हैं, या तो चीजों को जोड़ सकते हैं या तोड़ सकते हैं। सृजन नहीं कर सकते। तत्व वह है जो असृजित है, इसको हम सृजन नहीं कर सकते।

विज्ञान कहता है कि इलेक्ट्रिसिटी, विद्युत ऊर्जा स्वयम्भू तत्व है। धर्म कहता है, आत्मतत्व स्वयम्भू है। कोई हैरानी न होगी कि आज नहीं कल विज्ञान की और खोज विद्युत को भी तोड़ ले, और हम पायें कि विद्युत भी स्वयम्भू नहीं है। पहले हम पाते थे कि पानी तत्व है, जब हमने तोड़ा तो पाया कि हाईड्रोजन और आक्सीजन तत्व है, पानी नहीं है। फिर हाईड्रोजन को भी तोड़ लिया तो पाया कि हाईड्रोजन भी तत्व नहीं है, विद्युत तत्व है। अब या तो आत्मतत्व और विद्युत एक ही चीज सिद्ध हों और या फिर विद्युत भी टूट जाय और हमें पता चले कि वह भी तत्व नहीं है। जहां तक मेरी समझ है विद्युत भी टूट सकेगी। और जिस दिन विद्युत टूटेगी उस दिन हम पायेंगे कि चेतना, कांसेसनेस—ही शेष रह गई है।

अब यह बहुत मजे की बात है कि पत्थर को कोई भी नहीं कह पायेगा कि इनर्जी है, शक्ति है। पत्थर पदार्थ है। पुराना भेद हमारा है मैटर और इनर्जी का, पदार्थ और शक्ति का। लेकिन जब पत्थर को तोड़ा गया, और विश्लेषण किया गया तो अन्त में जाकर अणु का विस्फोट हुआ तब पदार्थ एकदम खो गया। बची ऊर्जा और विज्ञान को अपना पुराना निरन्तर का द्वैत समाप्त कर देना पड़ा।

मैटर और इनर्जी का पुराना द्वैत था—एक है पदार्थ और एक है शक्ति, वह समाप्त कर देना पड़ा। पदार्थ के टूटने पर पता चला कि पदार्थ नहीं है, सिर्फ शक्ति ही है। मैटर इज इनर्जी, कहना पड़ा कि पदार्थ ही ऊर्जा है। पदार्थ जैसी कोई भी चीज नहीं है। जब तक पदार्थ के नीचे हम नहीं उतरे थे, तब दो चीजें थीं। निश्चित ही अगर पत्थर को हाथ में उठायें और बिजली के तार को छुएं तो पत्थर पदार्थ मालूम देता है और बिजली के तार से जो बहती है, वह ऊर्जा लगती है। दोनों में बड़ा भेद है। लेकिन अब विज्ञान कहता है कि पदार्थ पत्थर को भी तोड़ दें हम, तो आखिर में वही ऊर्जा मिल जाती है जो बिजली के तार से बहती है। उसी को तोड़कर तो हिरोशिमा में हमने एक लाख आदमी मारे। वह बिजली

का धक्का है। पदार्थ के विखण्डन से, एक छोटे से अणु के विस्फट से, इतनी ऊर्जा पैदा हुई कि हीरोशिमा में एक लाख और नागासाकी में एक लाख बीस हजार आदमी मरे। बड़ी से बड़ी बिजली को छूकर भी इतने आदमी नहीं मर सकते; एक छोटे से कण से इतनी बिजली पैदा हुई। वह कण खो गया बिजली होकर। विज्ञान कहता है कि अब तो सिर्फ ऊर्जा है। मैं आपसे कहता हूं कि एक और अभी भेद रह गया है, ऊर्जा और चेतना का। इनर्जी और कांसेसनेस का। बिजली तो हम छूते हैं तो पता लगता है शक्ति है, लेकिन जब एक आदमी से हम बात करते हैं तो सिर्फ इतना ही नहीं लगता है कि यह शक्ति है, चेतना भी मालूम पड़ती है। बिजली दौड़ रही है, यह टेपरेकार्डर बोलेगा। टेपरेकार्डर वही बोलेगा जो मैं बोल रहा हूं। लेकिन जब टेपरेकार्डर बोलेगा तो सिर्फ ऊर्जा है। लेकिन जब मैं बोलता हूं तो सिर्फ ऊर्जा नहीं है, चेतना भी है। क्योंकि टेपरेकार्डर अदल-बदल नहीं कर सकेगा जो मैंने बोला है वही बोलेगा। और मैं चाहूं भी तो वह नहीं बोल सकूंगा जो आज बोल रहा हूं। क्योंकि मैं कोई यंत्र नहीं हूं। मुझे भी पता नहीं है कि इस वचन के बाद कौन सा वचन निकलेगा। आप उस वचन को सुनेंगे, तभी मैं भी सुनूंगा। चेतना और ऊर्जा का फासला अभी कायम है। कहना चाहिए, पुराना जो था जगत वह द्वैत नहीं था, त्रैत था। पदार्थ, ऊर्जा, चेतना (मैटर, इनर्जी, कांसेसनेस)। उसमें से एक तो गिर गया। पदार्थ गिर गया। अब द्वैत रह गया— ऊर्जा और चेतना। पदार्थ को गहरे में खोजने से पदार्थ नष्ट हो गया और हमने पाया कि ऊर्जा है। और मैं आपसे कहता हूं कि ऊर्जा को गहरे में खोजने से ऊर्जा भी गिर जायेगी और हम पायेंगे कि चेतना है। उस चेतना का नाम आत्मतत्व है। जहां सब गिर जायेगा, न पदार्थ होगा, न ऊर्जा होगी, सिर्फ कांसेसनेस! इसलिए हमने उस परम तत्व को सच्चिदानन्द कहा है। तीन शब्दों का उपयोग किया है उस आत्मतत्व के लिए। सत, सत् का अर्थ है एग्जिस्टेंस, जो है। जो कभी नहीं नहीं होता। सत् का अर्थ है, जो सदा है। जो कभी भी ऐसी स्थिति में नहीं होता कि आप कह सकें कि नहीं है। है ही। सब कुछ बदलता चला जाय, वह है ही। चित् का अर्थ होता है चैतन्य. कांससनेस। वह अकेला है ही, ऐसा नहीं, उसे पता भी है कि मैं हूं। एक चीज हो सकती है, एक पत्थर पड़ा है, वह है। तब वह सिर्फ एग्जिस्टेंस है। लेकिन उस पत्थर को यह भी पता है कि 'मैं हूं', तब वह चित् भी है। तब वह कांसेसनेस भी है। और तीसरा शब्द हम कहते हैं, आनन्द। इतना ही नहीं कि वह आत्मतत्व है, इतना ही नहीं कि वह चैतन्य है, इतना ही नहीं कि वह है, और उसे पता है कि मैं

हूं। इतना भी कि जैसे उसे पता चलता है कि हूं, मैं हूं, उसे यह भी पता चलता है कि मैं 'आनन्द हूं'। इस आत्मतत्व को स्वयम्भू कहा है। उसे किसी ने बनाया नहीं है। उसे कोई मिटा नहीं सकेगा। इसीलिए ध्यान रहे, स्वयम्भू है, इसीलिए अमृत है। जो चीज बनेगी वह मिटेगी। जो चीज निर्मित होगी वह नष्ट होगी। कोई निर्माण शाश्वत नहीं हो सकता, कोई निर्माण नित्य नहीं हो सकता।

सब निर्मितियां समय में बनती हैं और समय में मिट जाती हैं। असल में जिस चीज का भी जन्म होगा, वह मरेगी। कितना ही मजबूत बनायें, थोड़ी देर लगेगी मिटने में। महल चाहे कागज के पत्तों के बनाये जायं, गिर जाते हैं; चाहे सख्त पत्थर के बनाये जायं, गिर जाते हैं और चाहे फौलाद के बनाये जायं तो गिर जाते हैं। हां, देर लगती है। समय लगता है। ताश के पत्तों के घर को हवा का एक झोंका गिरा देता है, पत्थर की दीवाल के महलों को हवा के लाखों झोंके गिरा पाते हैं, लेकिन गिरा देते हैं। मात्रा का फर्क पड़ता है। बुनियादी अंतर नहीं है। क्योंकि ताश का घर भी बनाया गया है इसलिए गिरेगा, और महल भी बनाये गये हैं इसलिए गिरेंगे। जहां एक छोर पर निर्माण होगा वहां दूसरे छोर पर विध्वंस होगा। स्वयम्भू है, इसलिए आत्मतत्व अमृत है। क्योंकि एक छोर पर भी बना नहीं, इसलिए दूसरे छोर पर कभी मिटेगा नहीं। स्वयम्भू में एक बात है कि अनिर्मित है, दूसरी बात है कि अमृत है। इम्मार्टल है, नष्ट नहीं हो सकता। यह भी आपसे कह दूं और इससे विज्ञान भी राजी होता है कि जो तत्व दो मिलकर बना है, वह मिटेगा। जो तत्व एक से बना है वह नहीं मिट सकता। उसके मिटने का कोई उपाय नहीं है। क्योंकि उसके बनने का कोई उपाय नहीं है। बनाना हो तो चीजें मिलानी पड़ती हैं, मिटाना हो तो अलग कर देनी पड़ती हैं। बनाना जोड़ना है, मिटाना बिखराना है। लेकिन जो तत्व इकहरा है, जिसमें कोई दूसरा तत्व नहीं है, उसको मिटाया नहीं जा सकता है। उसको मिटायेंगे कैसे उसे तोड़ा नहीं जा सकता। वह दो होता तो टूट जाता। वह एक ही है। वह सदा रहेगा। तत्व स्वयम्भू होगा, और तत्व अमृत होगा। उस तत्व को उपनिषद आत्मतत्व कहते हैं।

कहा है कि वह स्वयम्भू आत्मतत्व सर्वज्ञ है। अब सर्वज्ञ का क्या अर्थ होगा? सर्वज्ञ के दो अर्थ हो सकते हैं और आमतौर से जो गलत अर्थ होगा दो में वही प्रचलित है। जो चीज प्रचलित होती है, अक्सर गलत होती है। ज्ञान इतना गूढ़ है कि बहुत प्रचलित नहीं होता। अज्ञान, सबकी समझ में आ जाता है सहज प्रचलित हो जाता है। सर्वज्ञ का एक अर्थ तो होता है 'आल नोइंग'—सब कुछ

जानता है। यही अर्थ प्रचलित है। इसलिए जैसे उदाहरण के लिए जैनों ने महावीर को सर्वज्ञ कहा है। कहा था इसीलिए कि जब आत्मतत्व जान लिया तो आदमी सर्वज्ञ हो गया। क्योंकि आत्मतत्व का लक्षण है सर्वज्ञ होना, सब जान लिया। महावीर ने खुद कहा है, जिसने एक को जाना उसने सब जान लिया। तो ठीक है, महावीर ने सब जान लिया। पीछे अनुयायी सोचता है कि महावीर को यह भी पता होगा कि साइकिल का पंक्चर कैसे जोड़ा जाता है? लेकिन महावीर को साइकिल का भी कोई पता नहीं। महावीर को पता होना चाहिए कि हवाई जहाज कैसे बनाया जाता है। सर्वज्ञ का अगर यह अर्थ लिया तो बड़ी भ्रांति होगी और इससे बड़ी तकलीफ होगी। महावीर को जिस दिन इस तरह सर्वज्ञ माना जैनों ने, उसी दिन तकलीफ में पड़ गये। उनकी इस बात की बुद्ध ने बहुत मजाक उड़ायी थी। अनुयायियों ने दावा करना शुरू किया कि महावीर सब जानते हैं, तो बुद्ध ने बहुत जगह मजाक में कहा है कि मैंने सुना है कि किसी के संबंध में कुछ लोग दावा करते हैं कि वह सर्वज्ञ हैं। लेकिन उन्हें मैंने ऐसे घर के सामने भीख माँगते देखा है कि जिस घर मे कोई था ही नहीं। पीछे पता चला कि घर खाली है। उन्हें मैंने सुबह के धुंधले अंधेरे में चलते हुए देखा है और सुना है कि कुत्ते की पूंछ पर पैर पड़ गया तब उन्हें पता चला कि कुत्ता रास्ते में सोया था। यह बुद्ध ने मजाक उड़ायी है सर्वज्ञता के उस अर्थ की। सर्वज्ञता का वह अर्थ नहीं है। बुद्ध ने कहा है, जिन्हें लोग सर्वज्ञ कहते हैं उनके संबंध में मैंने सुना है कि वह भी गांव के बाहर आकर लोगों से पूछते हैं कि यह रास्ता कहां जाता है? तो ठीक है, महावीर को भी पूछना पड़ता है कि रास्ता कहां जाता है। लेकिन यह मजाक महावीर की नहीं है। महावीर का ऐसा कोई दावा नहीं है। दावेदार अनुयायी हैं। वे कहते हैं कि उनके महावीर सब जानते हैं। कौन सा रास्ता कहां जाता है, यह भी जानते हैं। नहीं, सर्वज्ञ का दूसरा ही अर्थ है। वह अर्थ बहुत निगेटिव है। यह पोजिटिव अर्थ गलत है। सर्वज्ञ का निषेधात्मक अर्थ है कि अब जानने को कुछ शेष नहीं रहा। सर्वज्ञ का अर्थ है कि जानने को ऐसा कुछ नहीं बचा जो जानने योग्य है। रास्ता कहां जाता है यह बिल्कुल न जानने योग्य बात है। घर में कोई है या नहीं, यह भी जानने योग्य बात नहीं है। न जाना तो हर्ज क्या है? रास्ते पर कुत्ता सोया है या नहीं सोया है, यह भी कोई जानने योग्य बात है? न जाना तो हर्ज क्या है? सर्वज्ञ का मेरी दृष्टि में जो अर्थ है वह यह कि जो भी जानने योग्य है वह जान लिया गया। 'आल नोन दैट इज वर्थ नोइंग'। कामचलाऊ जगत में बहुत

सी बातें मालूम पड़ती हैं कि जानने योग्य हैं, लेकिन उन्हें न जाना तो क्या फर्क पड़ता है। सर्वज्ञ का मेरे लिए जो अर्थ है वह है, ऐसा कुछ भी नहीं बचा जो जानने योग्य है। ऐसा कुछ भी नहीं बचा, जिसके कारण जीवन के आनन्द में रत्ती भर भी फर्क पड़ता हो। ऐसा कुछ भी जानने को नहीं बचा, जिससे सच्चिदानन्द होने में कोई भी भेद पड़ता है। रास्ता यह बायें जाता है तो पहुंचता होगा कहीं, रास्ता दायें जाता है तो पहुंचता होगा कहीं, लेकिन इससे सच्चिदानंद स्वरूप में कोई फर्क नहीं पड़ता है। और महावीर भटक भी जायं और गलत गांव पहुंच जायं, तो भी कोई फर्क नहीं पड़ता है। क्योंकि ठीक मंजिल पर पहुंचा हुआ आदमी, कहीं भटके, क्या फर्क पड़ता हैं? और हम, जो ठीक मंजिल पर नहीं पहुंचे, बिल्कुल ठीक गांव भी पहुंच जायं, तो क्या होने को है? और हमें सब रास्ते बिल्कुल ठीक ठीक पता हैं, हम बिल्कुल पी. डब्लू. डी. का नक्शा हैं। तो भी क्या फर्क पड़ता है? तो सर्वज्ञ का मैं यह अर्थ करता हूं, और मैं चाहता हूं कि सर्वज्ञ के ऐसे अर्थ न किए जायं जो मखौल हो जाते हैं, मजाक हो जाते हैं। महावीर को बहुत मखौल, व्यर्थ झेलनी पड़ी, उनके पीछे चलने वाले लोगों की वजह से। क्योंकि उन्होंने जो व्याख्या की 'सर्वज्ञ' की वह बेमानी थी। इसलिए अब बड़ी तकलीफ भी है उनको। अभी जैसे कि पहली दफा अंतरिक्ष यात्री चांद पर उतरे तो जैन साधुओं को बड़ा कष्ट हुआ। कष्ट हुआ, क्योंकि वह कहते हैं उनके शास्त्र में लिखा है जैसा चांद के बारे में वैसा चांद नहीं पाया गया। और शास्त्र को वह मानते हैं, क्योंकि जिन्होंने कहा है वे सर्वज्ञ थे, उनकी बात गलत हो ही नहीं सकती। जैन साधुओं ने यहां तक कहा कि ये चांद पर नहीं उतरे बल्कि चांद के इस तरफ देवताओं के जो वाहन ठहरे रहते हैं, बैलगाड़ियां, रथ ये उन पर उतर गये हैं, और वहीं से लौट आये। एक जैन मुनि ने तो पैसा इकट्ठा करना शुरू कर दिया। और नासमझ मिल गये, जिन्होंने लाखों रुपया भी दिया यह सिद्ध करने के लिए कि वह सिद्ध करेंगे कि ये किसी देवता के वाहन पर उतर कर लौट आये वापस, चांद तक नहीं पहुचे। चांद पर पहुंचेंगे तो चांद वैसा ही होगा जैसा हमारे शास्त्र में लिखा है। क्योंकि वह शास्त्र सर्वज्ञ का कहा हुआ है। अगर ऐसा दावा किया तो हमारी नासमझी की वजह से वह शास्त्र दो कौड़ी का हो जायेगा। अगर तुम्हारे शास्त्र में कहीं भी कहा हुआ है कि चांद कैसा है और गलत होता है तो वह शास्त्र का वक्तव्य उस जमाने के वैज्ञानिक का वक्तव्य है, आत्मज्ञानी का नहीं। और आत्मज्ञानी को क्या मतलब है कि वह वक्तव्य दे कि चांद पर किस तरह के पत्थर हैं। और अगर देता भी हो

ऐसा वक्तव्य तो वह आत्मज्ञानी की हैसियत से दिया गया नहीं है, और इससे बड़ी मुश्किल होती है।

अब आइंस्टीन एक विचारक है, गणितज्ञ है। पर गणितज्ञ होने पर ही पूरा समाप्त थोड़े ही है। उसकी जिन्दगी में और भी बहुत कुछ है। जब यह ताश खेलता है तब गणितज्ञ नहीं है। और जब किसी स्त्री के प्रेम में पड़ जाता है तब गणित का क्या लेना-देना है। तब अगर वह स्त्री से कह दे कि तुझसे सुन्दर कोई भी नहीं, तो यह कोई मैथमेटिकल स्टेटमेंट नहीं है कि इसको कल कोई दावा करे कि आइंस्टीन ने कहा। वह इतना बड़ा गणितज्ञ है, उसने सारी दुनिया की स्त्रियों के सौंदर्य को नाप-जोख के कहा होगा कि यह स्त्री सबसे ज्यादा सुन्दर है। यह तो कोई भी कहता रहा है, हर स्त्री को कहने वाले मिल जाते हैं। इसके लिए किसी के गणितज्ञ होने की जरूरत नहीं है। पर यह गणितज्ञ की हैसियत से नहीं कहा गया है। यह हैसियत एक प्रेमी की है। तो सर्वज्ञ की स्थिति में ऐसा कुछ भी नहीं बचा है जिसे जानने से उसके आनन्द में कोई बढ़ती होगी। उसका आनन्द पूरा है। ऐसा कोई भी अज्ञान नहीं बचा है, जो उसके आनंद में बाधा डालता हो। उसका सब अज्ञान नष्ट हो गया। उसका क्रोध, उसका मोह, उसका लोभ नष्ट हो गया। वह परम आनंदित है। सर्वज्ञ का अर्थ है—परम आनंद में प्रतिष्ठित ! ऐसे ज्ञान को जान लिया जिसने जिससे आनन्द प्रतिष्ठित हो जाता है और दुख की संभावना विदा हो जाती है।

तो आत्मतत्व सर्वज्ञ है इस अर्थ में, त्रिकालज्ञ के अर्थ में नहीं कि तीनों काल का उसे पता है—कि कल क्या होगा और परसों क्या होगा, कि इलेक्शन में कौन जीतेगा और कौन नहीं जीतेगा ? ऐसा उसे कुछ भी पता नहीं है। ऐसा पता होने का कोई कारण भी नही है, कोई जरूरत भी नहीं है। यह सारा समय के भीतर होने वाला उसके लिए पानी पर खींची गयी रेखाओं जैसा हो गया है। वह इसका कोई हिसाब नहीं रखता है। यह उसके लिए स्वप्नवत् हो गया है कि कौन जीतता है, और कौन हारता है। यह बच्चों की दुनिया की बात हो गयी, वह प्रौढ़ हो गया। उसे इस सबसे कोई लेना-देना नहीं है। उस तत्व को जानकर सर्वज्ञता आ जाती है, अर्थात् अज्ञान गिर जाता है। अर्थात् लोभ, मोह, क्रोध जो अज्ञान से पैदा होते हैं वे गिर जाते हैं। अर्थात् आनन्द, जो ज्ञान से जन्मता है वह उसे उपलब्ध हो जाता है। वह दिया जल जाता है जो ज्ञान का है और जिसकी रोशनी में परम आनन्द की प्रतिष्ठा है।

ऐसा जो आत्मतत्व है उसका तीसरा लक्षण कहा है शुद्ध ! सदा शुद्ध! सदा

पवित्र ,सदा निर्दोष ! जब हम अशुद्ध हुए मालूम पड़ते हैं तब भी वह अशुद्ध नहीं हुआ। हमारी सारी अशुद्धि हमारी भ्रांति है। जैसे सूर्य का प्रतिबिम्ब गन्दे डबरे में भी उतना ही शुद्ध है, ऐसा ही वह आत्मतत्व रावण के भीतर भी उतना ही शुद्ध है जितना राम के भीतर। जरा भी फर्क नहीं है उसकी शुद्धि में। असल में शुद्ध होना उसका कोई सांयोगिक लक्षण नहीं है। उसका स्वभाव लक्षण है। इसलिये सांयोगिक लक्षण और स्वभाव लक्षण के भेद को समझ लें तो यह बात ख्याल में आ जायेगी।

दो तरह के लक्षण होते हैं--ऐक्सीडेंटल, सांयोगिक। सांयोगिक लक्षण वह है जो फॉरेन है, विजातीय है। आपसे जुड़ता है, आपके भीतर से नहीं आता। जैसे एक आदमी बेईमान है। बेईमानी ऐक्सीडेंटल है, सांयोगिक है, स्वरूपगत नहीं है। सीखी गयी है, अर्जित है। इसीलिए तो कोई आदमी चौबीस घण्टे बेईमान नहीं रह सकता। बेईमान से बेईमान भी चौबीस घण्टे बेईमान नहीं रह सकता। क्योंकि जो भी अर्जित है वह बोझ रूप है, उसे उतारकर रखना पड़ता है, विश्राम करना पड़ता है। वह स्वभाव नहीं है। इसलिए बेईमान से बेईमान आदमी किन्हीं के साथ ईमानदार होता है। और कई बार तो ऐसा होता है कि बेईमान आदमी आपस में जितने ईमानदार होते हैं उतने ईमानदार आदमी भी आपस में ईमानदार नहीं होते। उसका कारण है कि जिसको हम ईमानदारी कहते हैं वह भी अर्जित है। उससे भी छुटकारा लेना पड़ता है। जो भी चीज अर्जित है ऐक्सीडेंटल है उसके साथ आप सदा नहीं हो सकते। आपको बीच बीच में छुट्टी लेनी पड़ेगी नहीं तो बोझ हो जायेगा, तनाव बढ़ जायेगा। इसलिए गंभीर आदमी को मनोरंजन करना पड़ता है। नहीं तो गंभीरता बोझ हो जाती है। महावीर को या बुद्ध को मनोरंजन की कोई जरूरत नहीं होती। क्योंकि कोई गंभीरता का बोझ ही नही है। यह आप ध्यान में लें। हम आमतौर पर समझते हैं, वह इतने गंभीर हैं, इसलिए सिनेमा गृह में नहीं बैठते, नाटक देखने नहीं जाते। नहीं, अगर इतने गंभीर हैं तो उनको नाटक देखने जाना ही पड़ेगा। नहीं, वह गंभीर हैं ही नहीं। इसका यह मतलब भी नहीं है कि वह गैर गम्भीर हैं। गंभीरता और गैर गम्भीरता बेमानी है। वह तो वही है, जो निजता है। जो स्वभाव है। वह कुछ अर्जित नहीं करते ऊपर से, इसलिए किसी चीज से छुट्टी नहीं लेनी पड़ती। अगर किसी आदमी ने संतपन की भी आदत बना ली, तो उसको हॉली-डे पर जाना पड़ेगा। उसको दो-चार दिन में, महीने-पन्द्रह दिन में संतपन से छुट्टी लेनी पड़ेगी। और जब तक घण्टे दो घण्टे वह गैर संत की दुनिया

म प्रवेश न कर जाय तब तक वापिस संत होना नहीं हो पायेगा मुश्किल पड़ जायेगा। वह ऐक्सीडेंटल क्वालिटी हैं, सांयोगिक गुण हैं। जो हम सीखते हैं, अर्जित करते हैं, वह बाहर से हम पर आती है। भीतर से नहीं आती। सब कुछ हमारा सीखा हुआ है।

जैसे समझें भाषा—भाषा सांयोगिक है, सीखी हुई है। कोई हिन्दी सीख सकता है, कोई मराठी, कोई अंग्रेजी, कोई जर्मन। हजार भाषाएं हैं—। एक एक आदमी एक एक भाषा बोल सकता है। कोई अड़चन नहीं है। इतनी भाषाएं हम बना सकते हैं ये सब सांयोगिक है। लेकिन मौन—मौन सांयोगिक नहीं है। इसलिए दो आदमी बोलते हों तो बोलने में भेद हो सकता है लेकिन दो आदमी पूरी तरह मौन हो जायं तो उनमें कोई भेद नहीं हो सकता है। भाषा में विवाद हो सकता है, मौन में कोई विवाद नहीं हो सकता। और जब दो आदमी बिल्कुल मौन होते हैं तो उनकी भीतरी क्वालिटी में कोई फर्क नहीं रह जाता। दो साइलेंस में क्या फर्क होगा? दो मौन में क्या भेद होगा? लेकिन मौन अगर ऊपर से थोपा हुआ हो तो भेद होगा, क्योंकि भीतर भाषा चलती रहेगी। सिर्फ चुप रहें दो आदमी तो भेद होगा। मैं चुप बैठा हूं, आप मेरे बगल में चुप बैठे हैं, मैं अपना सोचता रहूंगा, आप अपना सोचते रहेंगे। सोचना जारी रहेगा। ओठ बन्द रहेंगे। ओठ तो लगेंगे बिल्कुल एक जैसे हैं, भीतर सब भेद चलता रहेगा। हम भीतर हजारों मील फासले पर होंगे। पता नहीं आप कहां होंगे और मैं कहां हूंगा। लेकिन अगर सच में मौन आ गया—ऊपर से अर्जित नहीं, भीतर से खिला हुआ, ऊपर से थोपा गया नहीं। भीतर से आविर्भूत और हम बिल्कुल ही चुप हो गये, भीतर भी शब्द खो गये, भाषा खो गयी, तो मुझ में और आप में कौन सा भेद होगा? कौन सा फासला होगा? हम एक ही जगह हो जायेंगे। हम एक जैसे हो जायेंगे। हमारी दो ज्योतियां धीरे धीरे मौन होते होते एक ज्योति बन जायेंगी। दो भी नहीं रह जायेंगी। क्योंकि दो का फासला करने वाली बीच की कोई बाउण्ड्री लाइन नहीं बची। भेद से बनती है सीमा, अभेद में गिर जाती है। मौन, चिर मौन, अन्तर मौन स्वभाव है। भाषा सांयोगिक है। जो जो सांयोगिक है, वह सदा रहने वाला नहीं है। इसलिए मजे की बात है, आप चौबीस घण्टे क्रोध नहीं कर सकते, लेकिन चौबीस घण्टे क्षमा में हो सकते हैं। सोचें इसे, क्रोध में चढ़ेंगे-उतरेंगे, चौबीस घण्टे क्रोध में नहीं हो सकते। लेकिन क्षमा में चौबीस घण्टे होने में कोई बाधा नहीं। घृणा में अगर जीना हो तो चौबीस घण्टे नहीं जी सकते, नरक हो जायेगी खुद के लिए। लेकिन

अगर प्रेम में जीना हो तो चौबीस घण्टे जी सकते हैं। लेकिन जिसे हम प्रेम कहते हैं उसमें हम चौबीस घण्टे नहीं जी सकते। जिसे हम प्रेम कहते हैं वह भी पीरियाडिकल है, वह भी अवधि का है। क्योंकि जो स्वभाव है, उसी में हम सदा हो सकते हैं। जो भी विभाव है और बाहर से लिया गया है उसमें हम सदा नहीं हो सकते। उसे उतारना ही पड़ेगा। उस बोझ से हटना ही पड़ेगा।

आत्मा शुद्ध है, इसका यह अर्थ नहीं है कि वह कभी अशुद्ध हो जाती है और फिर हमें शुद्ध करना पड़ता है। अगर आत्मा अशुद्ध हो सके तो फिर हम शुद्ध न कर पायेंगे। फिर कौन शुद्ध करेगा जब हम ही अशुद्ध हो गये। शुद्ध करने वाला भी नहीं बचेगा। नहीं, आत्मा शुद्ध है ही। सिर्फ हम अशुद्ध गुणों को अपने चारों तरफ इकट्ठा कर लेते हैं, जैसे कि एक दिये के चारों तरफ हम काला पर्दा लटका दें। दिया इससे अंधेरा नहीं हो जाता। दिया अब भी अपनी रोशनी में ही जलता है। लेकिन चारों तरफ काला पर्दा है जो चारों तरफ रोशनी को पहुँचने से रोक देता है। और अगर दिया हमारे जैसा पागल हो, और धीरे धीरे भूल जाय कि मैं दिया हूं, और समझने लगे कि मैं काला पर्दा हूं, तो जो कठिनाई पैदा हो जायेगी वही कठिनाई हमारे साथ है। हमारा स्वयं के निज स्वभाव से तो संबंध टूट जाता है और शरीर, मन, विचार, वृत्ति और वासना का जो हमारे चारों तरफ जाल है उससे हमारा तादात्म्य हो जाता है। हम कहने लगते हैं, यह हूं मैं। यह हूं मैं। वह जो भीतर है, वह किसी चीज के साथ अपना तादात्म्य कर लेता है, वह कहने लगता है, यह हूं मैं। और इतना शुद्ध है यह भीतर का तत्व, इतना निर्मल है कि किसी भी चीज की जब छाया उसमें बनती है तो पूरी बन जाती है। और उस छाया को हम पकड़ लेते हैं। कहने लगते हैं, यह हूं मैं। शुद्धि के कारण ही यह दुर्घटना भी घटती है। अगर दर्पण होश में आ जाय और आप दर्पण के सामने खड़े हों, दर्पण अपने भीतर झांककर देखे और पाये कि आपकी तस्वीर बनी है, तो दर्पण कहे कि यह हूं मैं, वहीं भूल हो जाती है। शुद्ध है आत्मा। उसकी शुद्धि के कारण वह इतनी निर्मल झील की तरह है कि जो भी उसके आसपास आता है, वह उसमें दर्पण की तरह झलकता है, जो भी। शरीर पास आता है तो दर्पण की तरह झलकता है और आत्मा कहती है मैं हूं शरीर। कितना शरीर बदलता जाता है, फिर भी आपको ख्याल नहीं आता कि कितने शरीरों से आप अपना तादात्म्य कर लेते हैं। अगर मां के पेट में जो पहला अणु बनता है, वह निकाल कर आपके सामने रख दिया जाय और कहा जाय, ये थे आप एक दिन तो आप बिल्कुल इन्कार करेंगे कि ये मैं! कभी नहीं हूं! आपके बचपन से लेकर बुढ़ापे तक के रोज चित्र लिये जायं, एक लंबी सीरीज चित्रों

की हो जाय, आप पायेंगे कि हर चित्र से आपने एक दिन कहा है कि यह हूं मैं ! कहां बचपन का चित्र और कहां बुढ़ापे का चित्र । कहां जन्म लेता हुआ बच्चा और कहां कब्र में उतरता ताबूत ! इन सबसे आप एक रहे हैं । जो जो दर्पण में आपके झलका है, आपने कहा है, यह हूं मैं । दिस इज मी, यही हूं मैं । कल फिर दर्पण पर दूसरी झलक आयी और आपने कहा, यही हूं । कभी अपने बचपन के चित्र को उठाकर, फिर अपनी जवानी के चित्र को उठाकर देखें । कोई भी ताल-मेल है उनमें ? कोई भी सम्बन्ध है ? यह आप हैं ? नहीं, एक दिन दावा किया था यह, फिर स्मृति में दावा बैठ गया, एक दिन मैं यह था, अभी यह हूं । रोज शरीर बदलता है। वैज्ञानिक कहते हैं सात वर्षों में शरीर का कण कण बदल जाता है, एक कण भी नहीं बचता पुराना, लेकिन आइडेन्टिटी जारी रही है । तादात्म्य जारी रहता है। हड्डी बदल जाती है, मांस बदल जाता है, खून बदल जाता है, सब सेल्स बदल जाते हैं, सब बदल जाता है सात साल में । सत्तर साल एक आदमी जीता है तो दस बार टोटल शरीर बदल चुका होता है । पूरा शरीर दस बार बदल चुका होता है। शरीर प्रतिपल बदल रहा है। लेकिन नहीं, वह शुद्ध दर्पण है भीतर । जो भी झलक बनती है, जो भी तस्वीर बनती है वह कह देते हैं, यह हूं मैं ।

यही तादात्म्य टूट जाय, यही नासमझी टूट जाय, यह हम कहना छोड़ दें कि यह हूं मैं, और कहने लगें, इस सबको जानने वाला हूं मैं । इस सबका साक्षी हूं मैं, विटनेस हूं मैं । मैंने बचपन को भी जाना था, वह मैं नहीं था । मैंने जवानी भी जानी, वह भी मैं नहीं था । मैं बुढ़ापा भी जानूंगा, वह भी मैं नहीं हूं । मैंने जन्म भी जाना, वह भी मैं नहीं हूं । मृत्यु भी जानूंगा, वह भी नहीं हूं । मैं तो वह हूं, जिसने यह सब कुछ जाना । यह लम्बी सीरीज है । यह फिल्मों का लम्बा काफिला, यह सब जाना जिसने, वह हूं मैं । जानने वाला हूं मैं, जो जाना जाता है वह नहीं हूं मैं । जो प्रतिफलित होता है, प्रतिबिम्बित होता है, वह नहीं हूं मैं । जिसम प्रतिबिम्बित होता है वह हूं मैं । तब आत्मा परम शुद्ध है । तब वह निर्मल दर्पण है, तब वह बिल्कुल निर्दोष झील है । जहां कोई लहर अशुद्ध की कभी नहीं उठी । जब उपनिषद कहते हैं कि शुद्ध बुद्ध है वह, शुद्ध है पूरा । लेश मात्र भी कोई अशुद्धि कमी आत्मा में प्रवेश नहीं की है । तो वह इस तादात्म्य को तोड़कर कहते हैं, हम भी उतने ही शुद्ध हैं । कोई कभी अशुद्ध हुआ नहीं, हो नहीं सकता है, उपाय नहीं है । लेकिन तादात्म्य अशुद्ध कर जाता है । तादात्म्य पापी बना देता है, पुण्यात्मा बना देता है । ध्यान रहे, पुण्यात्मा भी शुद्ध नहीं है । क्योंकि पुण्य से तादात्म्य है उसका । कोई कहता है कि लोहे की जंजीर हूं मैं और कोई कहता है, सोने की जंजीर हूं मैं । इससे क्या फर्क पड़ता है ? बाजार में

कीमत अलग होगी सोने और लोहे की, लेकिन तादात्म्य जारी है । कोई कहता है– पापी हूं मैं, कोई कहता है पुण्यात्मा हूं मैं । जब तक हम कहते हैं, यह हूं मैं, तब तक हम अशुद्ध अपने को नाहक किये चले जाते हैं । होते नहीं और फिर भी किये चले जाते हैं । जिस दिन हम कह देते हैं, यह भी नहीं हूं मैं, यह भी नहीं हूं– नेति नेति । जिस दिन हम कह देते हैं, नाट दिस, नाट दैट, यह भी नहीं, वह भी नहीं । मैं तो वह हूं जिसमें सब प्रतिबिम्बित होता है । मैं तो वह दर्पण हूं जिसमें सब छायाएं बनती हैं और खो जाती हैं । मैं हूं शून्य जिसमें सब झलकता है और विदा हो जाता है । न मालूम कितने जन्म झलके, न मालूम कितने शरीर झलके, न मालूम कितने रूप, न मालूम कितनी आकृतियां, न मालूम कितने अर्जित गुण, न मालूम कितनी योग्यताएं, कितने पद, कितनी उपाधियां झलकीं । अनंत अनंत यात्रा है, लेकिन झलक एक है । और झील सदा निर्मल है । झील के किनारे पर से यात्री गुजरते जाते हैं, झील में नये नये प्रतिबिम्ब बनते जाते हैं और झील सोचती चली जाती है, यह हूं मैं । कभी राह से गुजरता है कोई चोर, झील कहती है चोर हूं मैं । और कभी राह से गुजरता है कोई साधु, तो झील कहती है साधु हूं मैं । और कभी राह से गुजरता है कोई पुण्यात्मा और झील कहती है पुण्यात्मा हूं मैं । और कभी गुजरता है कोई पापी और झील कहती है पापी हूं मैं । और झील कहे चली जाती है और राह के किनारे से काफिले गुजरते चले जाते है प्रतिबिम्बों के 'केरेवान्स आफ रिफलेक्शंस' और इतनी तेजी से-गुजरते हैं वे कि एक प्रतिबिम्ब मिट नहीं पाता है कि दूसरा बन जाता है । बीच में क्षण नहीं मिलता कि हम देख लें उस झील को, जिसमें कोई प्रतिबिंब नहीं है ।

ध्यान की प्रक्रिया उस बीच के 'गेप' को देने का अन्तराल है,– इन्टरवल है ! – जब कोई प्रतिबिंब नहीं बनता और बीच में हम झाँक कर देख लेते हैं कि मैं तो झील हूँ, काफिला नहीं । वह जो गुजरता है किनारे से वह नहीं । वह जो चित्र मुझ पर बनते हैं वह नहीं ! मैं तो वह हूं जिस पर सब बनता है, फिर भी अनबना है । मैं अनबना छूट जाता हूँ– असृष्ट, ... अनिर्मित... !

★

SCHEDULE IX

Name of the Public Trust:-

Income and Expenditure Account

EXPENIDTURE

				Rs.
To	**Establishment expenses:**			
	Salary	12,924·00		
	Electric Exp.	779·65		
	Rent office	999·00		
	Conveyance	1,227·26		
	Insurance	70·00		
	Postage & Telegram ..	3,738·45		
	Stationery	3,677·27		
	Sundry Expenses	1,786·58		
				25,202·21
,,	Legal Expenses			75·00
,,	Audit Fees			400·00
,,	Amount written off (Bad debts)			1,034·39
,,	**Depreciation**			
	Library Books	4,540·04		
	Furniture	55·40		
	Typewriter	110·00		
			,,	4,705·44
,,	**Expenditure on objective of the trust : Educational**			
	Travelling expenses	3,795·95		
	Propaganda expenses ..	5,206·43		
	Publicity Literature exp. ..	5,581·56		
			,,	14,583·94
,,	Surplus c/o. to Balance Sheet		,,	5,883·83
		Total	Rs.	51,884·81

As per our report of even date

Sd/- (Mayra & Khatri)
Chartered Accountants Auditors

Dated:- 30th June 1971.

TRUST ACT, 1950 Registration No. E. 4057 (Bom.),

Vide Rule 17(1)

Jeevan Jagruti Kendra, Bombay.

for the year ending 31st December 1970.

INCOME

By	Donations in cash or kind		Rs. 13,850·55
,,	Income from Annual membership fees	912·00	
,,	Excess of Kulu Manali Shibir	508·34	
,,	Publication of Jyoti Shikha and Books	36,613·92	
			38,034·26
	Total		Rs. 51,884·81

Sd/- *Trustee*

THE BOMBAY PUBLIC

Schedule VIII

Name of the Public Trnst:

Balance Sheet as at

FUNDS & LIABILITIES			Rs.
Trust Funds or Corpus :—			
Balance as per last Balance Sheet ..		4,260·00	
Additions during the year		1,00,787·00	
			1,05,047·00
Other Earmarked Funds :			
Publication fund	14,170·00		
Receipts during the year	9,358·29		
		23,528·29	
Educational Activity fund		250·84	
			23,779·13
Loans Unsecured:—			
From Trustees		82,588·35	
From Others		16,000·00	
			98,588·35
Liabilities :—			
For Expenses		29,816·51	
For Advances (Souvenir)		32,351·00	
For Sundry credit balance		1,555·05	
			63,722·56
Income and Expenditure Account:			
Balance as per last Balance Sheet ..		5,510·45	
Less : Appropriation if any ..		Nil	
		5,510·45	
Add : Surplus as per Income & Expenditure account		5,883·83	
			11,394·28
		Total	3,02,531·32

As per our report of even date

Sd/-

(Mayra & Khatri)

Chartered Accountants,

Auditors

Dated at 30th June 1971.

TRUST ACT, 1950 Register No. E 4057 (Bom.)
(Vide Rule 17(1)
JEEVAN JAGRUTI KENDRA, BOMBAY.
31ST DECEMBER 1970.

ASSETS		Rs.
Investments:—		
Stock of Books etc. (as per inventory taken, value & certified by trustees)		98,266·22
Furniture and Fixture		52,601·00
Loans (Secured or Unsecured)		
Sundry Debtors		33,791·03
Advances		1,01,611·00
Cash and Bank Balances :		
a) In current a/c. or Fixed Deposit	13,101·18	
b) With a Trustee, Mr. I.N. Shah,	3,160·89	
		16,262·07
Total ..		3,02,531·32

The above Balance Sheet to the best of my belief contains a true account of the Funds and Liabilities and of the Property and Assets of the Trust.

Sd/-
Trustee

आचार्य रजनीश-साहित्य

नियमित रूप से प्राप्त कीजिए

आचार्य श्री रजनीश का नवीनतम साहित्य प्रकाशित हो जाने पर सूचना के अभाव में बहुत से लोग उसे प्राप्त करने से वंचित रह जाते हैं। ऐसे प्रेमी-सज्जनों से निवेदन है कि वे पत्र द्वारा अपना नाम और पूरा पता हमें लिख भेजें। हम आचार्य श्री का साहित्य प्रकाशित होते ही उन सज्जनों को तुरंत ही उसे वी. पी. पी. द्वारा नियमित रूप से भेज दिया करेंगे।

संपर्क स्थान :

जीवन जागृति केन्द्र,
५३, एम्पायर बिल्डिंग,
डॉ. डी. एन. रोड, बम्बई–१

माउंट आबू ध्यान शिविर

आचार्य श्री रजनीश के सान्निध्य में

इस शिविर में ध्यान के प्रयोग और निर्वाण उपनिषद् पर प्रवचन का कार्यक्रम आयोजित किया गया है

दिनांक रविवार २५–९–७१ सायंकाल सात बजे से प्रारंभ
दिनांक शनिवार २–१०–७१ की रात्रि को पूर्ण

शिविर में सम्मिलित होने की लालसा रखने वाले महानुभाव विस्तृत जानकारी के लिए नीचे लिखे पते पर सम्पर्क स्थापित करें :

जीवन जागृति केन्द्र
म्युनिसिपल स्कूल के सामने
खाड़िया चार रास्ता,
अहमदाबाद–१ फोन : २४०८३

जीवन जागृति केन्द्र
५३, एम्पायर बिल्डिंग,
डॉ. डी. एन. रोड,
बम्बई–१ फोन : २६४५३०

मुद्रक प्रकाशक : **ईश्वरलाल एन. शाह**, जीवन जागृति केन्द्र, एम्पायर बिल्डिंग, रूम नं. ५३, डा. डी. एन. रोड फोर्ट, बम्बई–१ मुद्रणस्थान : स्टेट्स पीपल प्रेस, बम्बई १

(कवर पेज २ से आगे)

* Earthen Lamps	4-50
* Path to Self Realization	4-00
* Philosophy of Non-Violence	0-80
* Who am I?	3-00
* Wings of Love & Randum Thoughts	3-50
* Mysteries Life:& Death	4-00
Critical Studies on Acharyaji	
* Acharya Rajneesh : A Glimpse	1-25
* Acharya Rajneesh : The Mystic of feeling	20-00

मराठी साहित्य

* पथ प्रदीप	८–००
* प्रेम पुष्प	३–५०
* साधनापथ	३–००
* क्रांतिबीज	२–५०
* सिंहनाद	२–००
* प्रेमाचे पंख	०–७५
* अहिंसादर्शन	०–५०
* अमृतकण	०–५०

ગુજરાતી સાહિત્ય રૂા. પૈ.

* અન્તર્યાત્રા	૫-૦૦
* સંભોગથી સમાધિ તરફ	૪-૦૦
* માટીના દિવા	૩-૫૦
* પંથના પ્રદીપ	૩-૦૦
* સાધના પથ	૩-૦૦
* ક્રાંતિબીજ (ભાષા હિન્દી)	૨-૫૦
* અજ્ઞાત પ્રતિ	૨-૦૦
* નવા સંકેત	૧–૭૫
* સત્યના અજ્ઞાત સાગરનું આમંત્રણ	૧–૫૦
* સૂર્ય તરફનું ઉડ્ડયન	૧–૦૦
* ગીતા પ્રવચન	૧–૦૦
* ધ્યાન	૦–૫૦
* પ્રેમ	૦–૫૦
* અભિનવ સંન્યાસ	૦–૫૦
* જીવન અને મૃત્યુ	૧–૦૦
* અમૃતકણ	૦–૫૦
* અહિંસાદર્શન	૦–૫૦
* કેટલીક જ્યોતિર્મય ક્ષણ	૦–૭૫
* નવા મનુષ્યના જન્મની દિશા	૦–૭૫
* તરુણ વિદ્રોહ	૦–૫૦
* પ્રેમની પાંખે	૦–૭૫
* ભ્રાંત સમાજવાદ	૦–૩૦
* ધર્મ અને રાજકારણ	૦–૪૦
* અતીતની આલોચના, ભાવિનું ચિંતન	૦–૩૫
* ગાંધીમાં ડોકિયું અને સમાજવાદ	૦–૩૫
* હું કોણ છું	૩–૦૦
* સંકલ્પ	૦–૭૫
* પરિવાર	૦–૭૫
* સત્યમ્ શિવમ્ સુંદરમ્	૦–૬૦
* ધર્મ વિચાર નહિ ઉપચાર	૦–૬૦
* વ્યસ્તજીવનમાં ઈશ્વરનીખોજ	૦–૫૦
* ક્રાંતિની વૈજ્ઞાનિક પ્રક્રિયા	૦–૬૦

पुस्तकें मिलने का पता

*** जीवन जागृति केन्द्र ***

५३ एम्पायर बिल्डिंग, १ ला मजला, १४६, डॉ. डी. एन. रोड, **बम्बई–१.** फोन: २६४५३०

३१, इजराइल मोहल्ला, भगवान भुवन, मस्जिद बंदर रोड, बम्बई–१.

फोन : ३३८५६०–३२७६१८

* A-1 Woodland Apt., Peddar Rd., Bombay 26. Phone No. 382184

ज्योति शिखा

२२

सितंबर १९७१

जीवन जागृति केन्द्र